दिव्य-देश का दर्शन
सहज मार्ग
के दर्पण में

लेखिका

कस्तूरी चतुर्वेदी

श्री रामचन्द्र मिशन
शाहजहाँपुर

मूल्य : १०.००

प्रथम संस्करण १९७८ ३००० प्रतियाँ

© प्रकाशक : प्रकाशन विभाग,
श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश)
भारतवर्ष

मुद्रक : अरविन्द प्रिन्टिर्स, २०-डी बेली रोड, इलाहाबाद ।

समर्पण

"समर्पण किसको करूँ मैं ? वे ही हैं मेरे देव, वे ही हैं दिव्य विभूति मेरे 'श्री बाबूजी' जिनकी कृपा द्वारा समस्त के लिये सुलभ 'दिव्य-देश का दर्शन' सहज मार्ग के दर्पण द्वारा सहज ही स्पष्ट हो जाता है। अपनी टूटी-फूटी भाषा में दिव्य-आध्यात्मिक-गतियों के हीरक-मोती से संजोयी मेरी यह पुस्तक-रूपी माल उनके ही पावन चरणों में समर्पित है।"

कस्तूरी

प्रकाशकीय टिप्पणी

श्री रामचन्द्र मिशन के अभ्यासियों में से कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी की यह सर्वप्रथम कृति "दिव्य देश का दर्शन सहज-मार्ग के दर्पण में" पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुये हमें बड़ा हर्ष है।

सहज-मार्ग साधना में बहिन कस्तूरी की आध्यात्मिक स्थिति एवं अनुभव उच्चकोटि की होने के साथ ही [redacted] वरिष्ठ एवं सफल प्रशिक्षक भी हैं। उनके आध्यात्मिक अनुभव पर सर्वथा आधारित इस पुस्तक से पाठकगण पूर्णतः लाभान्वित होंगे ऐसी हमारी आशा है।

अधीक्षक
प्रकाशन विभाग
श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर।

१२-२-१९७८

दो शब्द

भारत दार्शनिकों का देश है और ब्रह्मविद्या भारतीय दर्शन का प्राण है। यही कारण है कि इस भूखण्ड में सदा से ऐसे महापुरुष होते रहे हैं जिन्होंने अपना सादा जीवन अस्तित्त्व की सत्ता के अनुसन्धान में अर्पित कर दिया। स्वयं तो वे इससे लाभान्वित हुये ही जनसमुदाय को भी उन्होंने इससे लाभान्वित किया। फलस्वरूप, हमारा देश इतना अनूठा दार्शनिक साहित्य विश्व को दे सका। यह बात और है कि समय के सापेक्ष में उनकी अनुभूतियाँ विभिन्न स्तरों की रहीं और यही कारण है कि विविधता का बाहुल्य भी मिलता है पर इतना तो सभी मानते हैं कि परमसत्य अनन्त है। 'नेति', 'नेति' इसी बात का प्रमाण है। आत्मानुसन्धान में लगे हुये महापुरूषों ने उत्तरोत्तर यह भी अनुभव किया कि मोक्ष ही अन्तिम विराम बिन्दु नहीं है। परम सत्य की अनुभूति की स्थिति इससे बहुत आगे की है तथा इसकी प्राप्ति के दो उपाय हैं। एक तो वह जिसमें किन्हीं उपायों से उसे बोध में लाया जाय अर्थात् साधना द्वारा। दूसरे वह जिसमें वह परमसत्ता अपना बोध स्वयं ही करा दे। इसे उसकी कृपा, शक्तिपात, आदि नामों से जाना जाता है। स्पष्ट है कि दूसरी प्रक्रिया अधिक सरल है, पर विरल भी है!

यह दोनों ही पद्धतियाँ भारत में सुलभ थीं पर द्वितीय का लोप सुदूर भूतकाल में हो गया था। नियति के नियमानुसार इसे गत शताब्दी के अन्त में एक महात्मा समर्थ गुरु श्री रामचन्द्र जी महाराज (फ़तेहगढ़ निवासी) द्वारा पुनर्जीवन प्राप्त हुआ और उसे उनके अनन्य योग्यतम शिष्य, प्रतिनिधि एवं उत्तराधिकारी सद्गुरु महात्मा

श्री रामचन्द्र जी (शाहजहाँपुर निवासी) ने पूर्णता प्रदान की। इस प्रणाली में परमसत्ता में पूर्णतया लय व्यक्ति उसी परमशक्ति को अपनी इच्छाशक्ति से जिज्ञासु के हृदय में उतारता है जिससे उसकी प्रसुप्त दैविक चेतना जागृत हो उठती है और वह अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति के लिये वेचैन हो उठता है। इस प्रक्रिया को प्राणाहुति कहते हैं। समय के अन्तराल में जिज्ञासु अपने अभ्यास एवं इस प्रकार के विशिष्ट व्यक्ति अथवा सद्‌गुरु की प्राणाहुति के सहारे आत्मतत्त्व का बोध कर कृतकृत्य हो जाता है। चूँकि प्राण स्वयं अभ्यासी के हृदयरूपी यज्ञ-कुण्ड में अपनी आहुति देता है इसलिये सभी आध्यात्मिक स्थितियों की अनुभूति अभ्यासी को सहज ही हो जाती है। जगत, जीव, ब्रह्म आदि की वास्तविकता उसे हस्तामलकवत् हो जाती है।

प्रस्तुत पुस्तक की लेखिका कु० कस्तूरी चतुर्वेदी इसी पद्धति अर्थात् "सहज-मार्ग साधना पद्धति" में प्रशिक्षित आत्मबोध महिला हैं। सहज-मार्ग में उनकी साधना सन् १९४९ में सहसा अद्‌भुत परिस्थितियों में आरम्भ हुयी। अल्प समय में ही उन्हें अत्यन्त ऊँची स्थितियाँ अपना प्रकटोकरण करने लगीं। सद्‌गुरु महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज (बाबूजी) से सन् १९४९-५० के क्रमशः प्रकाशित पत्र व्यवहार इस बात के प्रमाण हैं कि उनकी स्थिति कितनी ऊँची और अच्छी उसी समय हो गयी थी। आज उनके आध्यात्मिक विकास की उच्चतम बुलन्दी का अन्दाज़ लगाना सरल नहीं। उनकी यह पुस्तक उनके स्वयं के आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर ही रचित है। इसमें उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर आध्यात्मिक स्थितियों का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य न तो सामान्यतया प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण करना है न ही सहज-मार्ग एवं इसकी प्रशिक्षण पद्धति का विवेचन। बल्कि अभ्यासियों के लाभ एवं उत्साह–

वर्धन के लिये उन व्यावहारिक विषयों पर विचार किये गये हैं जो सहज-मार्ग की आधार शिलायें हैं और जो अनुभूत हैं । अन्य चीजें तो अन्यत्र यथेष्ट रूप में प्राप्त है ही ।

आज के भौतिक विज्ञान के चकाचौंध ने ईश्वर विश्वास तो डिगा दिया है पर अपने आप में विश्वास जमाने में भी वह असमर्थ सा रहा है। ऐसी स्थिति में लेखिका का यह कहना है कि "विज्ञान-युग की पूर्णता के लिये आध्यात्म-विज्ञान का अध्याय भी संसार के लिये स्पष्ट होना चाहिये" सर्वथा समीचीन है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुये पुस्तक के विषय एवं क्रम इस प्रकार रखे गये हैं कि अपने 'देखने' के आधार पर जिज्ञासु अपना 'लक्ष्य' स्थिर कर सके। पुनः लक्ष्य की प्राप्ति के लिये साधन स्वरूप 'ध्यान' को अपना सके। स्वप्रयास में अत्यधिक विलम्ब एवं अपूर्णता से मुक्ति पाने के लिये सद्गुरु की 'प्राणाहुति' का सम्बल लेकर अनन्त यात्रा निश्चिन्त एवं निर्द्वन्द्व होकर निरन्तर करता रहे। लेखिका का विचार कि "सृष्टि का प्राण ध्यान ही है" अत्यन्त मौलिक है और बड़े से बड़े दार्शनिक के लिये विचारणीय विषय है। हर व्यक्ति जो ध्यान करता है यह पाता है कि विभिन्न प्रकार के अनुभव ध्यान में होते हैं पर अधिकांश व्यक्ति उसे पकड़ नहीं पाते अथवा पकड़ कर भी उसे समझ नहीं पाते। इसी कारण आन्तरिक "सजगता एवं अनुभव" की आवश्यकता होती है। लेखिका का कहना है कि "मैंने देखा है कि आन्तरिक चेतना या सजगता से अनुभव और अनुभवों से आन्तरिक चेतना दृढ़ता पाने लगती है।" फलस्वरूप, अभ्यासी में आत्म विश्वास पैदा होता है और उसकी सुग्राहकता (Sensitivity) और ग्रहणशीलता (Receptivity) बढ़ती जाती है। यह प्राणाहुति का ही प्रसाद है। और एक समय आता है जब अभ्यासी स्वयं ही लक्ष्य-स्वरूप हो जाता है। हवृत्त पूरा हो जाता है।

यों तो प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति एक दूसरे से भिन्न होती है पर चूंकि लेखिका ने जो कुछ देखा सहज-मार्ग के दर्पण में देखा इस-लिये सहजमार्ग के अभ्यासियों के लिये बहुत कुछ सामान्य हो जाता है। अभ्यासी कुछ अंश में पुस्तक को अपने लिये एक मापदण्ड मान सकता है।

स्थान-स्थान पर लेखिका ने लिखा है कि "मैंने देखा है", "ईश्वर दर्शन" के बाद यह देखा अथवा "दिव्य दृष्टि" से वह देखा। इससे कुछ लोग यह आक्षेप कर सकते हैं कि इसमें कुछ गर्वोक्ति की गन्ध आती है पर उनका यह भ्रम 'अहम्' अध्याय के अध्ययन से समाप्त हो जायेगा। उसमें यह सिद्ध हो जाता है कि लेखिका ने 'मैंने' किसके लिये प्रयोग किया है। एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है कि "आत्मा ही आत्मा का दर्शन करता है।"

आत्म-साक्षात्कार के लिये सतत् प्रयत्नशील पाठकों के लिये मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगी। हमारी ार्दिक शुभाशंसा है कि इस उत्कृष्ट एवं उपयोगी पुस्तक की लेखिका भविष्य में भी एवंविध एवं इससे भी उत्कृष्ट पुस्तकों का प्रणयन कर आत्म-साक्षात्कार के अभ्यासियों को लाभान्वित करें।

इलाहाबाद :
बसन्त पंचमी
(१२-२-१९७८)

लक्ष्मी शंकर
प्राचार्य
के० पी० यूनिवर्सिटी कालेज,
इलाहाबाद

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
१—मैंने देखा	...	१
२—लक्ष्य	...	६
३—लक्ष्य की सार्थकता	...	२७
४—ध्यान	...	३९
५—ध्यान की महिमा	...	५४
६—ध्यान की आवश्यकता	...	७३
७—प्राणाहुति	...	९५
८—प्राणाहुति की कार्यक्षमता	...	१२९
९—सजगता और अनुभव	...	१४२
१०—संकल्प और सजगता	...	१६६
११—अहम्	...	१८७
१२—उपसंहार	...	२१७

मैंने देखा

सन् १९४९ की संध्या बेला थी। गृह-कार्यों से अवकाश पाकर नितान्त विचारहीन-सी बैठी थी। ऐसे ही आकाश की ओर देखने लगी। कुछ देर पश्चात् मैंने देखा कि आकाश में एकाएक प्रकाश फैल गया है। मैं देखती रही। भगवान राम की मूर्ति उस प्रकाश के मध्य दिखाई पड़ी। फिर वह मूर्ति विलीन हो गई। तत्पश्चात् श्री कृष्ण भगवान् का स्वरूप उस परम प्रकाश में दृष्टिगोचर हुआ। धीरे-धीरे वह भी विलीन हो गया और उसके स्थान पर 'ओंकार' दृष्टिगत हुआ। देखते ही देखते वह भी विलीन हो गया। तब मैंने देखा कि एक दुर्बल-सी महत् काया, छोटी-सी गलमूछोंदार दाढ़ी, दुबला-सा किन्तु तेजोमय भव्य चेहरा, उस प्रकाश के मध्य देदीप्यमान था। उसे मैं देखती ही रह गई। वह मूर्ति अटल थी, न जाने कब तक? यह पता नहीं। जब एकाएक होश आया तो आकाश सामान्य-आकाश था। कहीं कोई प्रकाश न था। बारंबार नेत्र पोंछ कर देखने का प्रयत्न करने पर भी वह मूर्ति दृष्टिगत न हुई। मेरा हृदय अनजाने ही उसकी प्रतीक्षा में लग गया।

दूसरे दिन का सुन्दर प्रभात। मुझमें एक आतुरता थी। न जाने क्यों ? दिन भर आतुर मन से गृह-कार्य में लगे रहने पर भी मन उचाट-सा हो जाता था। सायंकाल पिता जी ने बताया कि एक राजयोगी महात्मा जिन्होंने 'सहज-मार्ग' का प्रतिपादन किया है, कल संध्या समय गृह पर पधारने वाले हैं। किन्तु इस समाचार से हमें कोई विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। साधु-महात्मा तो नित्य ही कोई न कोई पधारते ही रहते थे।

रात्रि आई। लगभग एक बजे एक स्वप्न देखा। काली का एक विशाल मंदिर सामने था। सम्पूर्ण परिवार सहित मैं उसके मुख्य द्वार पर खड़ी थी। द्वार की चौखट पर लम्बी श्वेत दाढ़ी युक्त एक भव्य महापुरुष शान्त मुद्रा में खड़े थे। आगे बढ़-कर चौखट पर खड़े उस महापुरुष से मंदिर में प्रवेश करने की मैंने अनुमति माँगी। परम गम्भीर एवं मृदु स्वर हम सब ने सुना 'हाँ प्रवेश तो कर सकती हो किन्तु इस मंदिर में प्रवेश पाने वालों के लिये एक नियम है। यह तलवार लो और इससे अपना सिर काट कर मेरे हाथों में रखकर मंदिर के अन्दर चली जाओ'। अजीब बात थी। अजीब नियम था। 'सिर

काट कर दे जाओ और मंदिर में चली जाओ'। परन्तु नियम, नियम था। उसे पालन ही करना था। हठात् आगे बढ़कर उनसे कहा, 'यह कौन सी बड़ी बात है ?' वृद्ध महापुरुष के हाथों से तलवार लेकर अपना सिर काटा और उनके हाथों में रखकर, मंदिर में जो प्रवेश किया तो वहाँ कोई मूर्ति न थी ! वहाँ तो एक अलौकिक, दिव्य वातावरण था, और मेरी अवस्था भी दिव्य थी ! लगता था ऐसी ही चीज़ के लिये मैं इतने समय से व्यथित थी। इसी वातावरण की महक पी जाने को मैं इतने दिनों से प्यासी थी ! स्वप्न टूट गया, पर उसका स्मरण मन लगातार दुहरा रहा था।

नव-प्रभात आया। सायंकाल ही वे राजयोगी, सहज-मार्ग के द्रष्टा, हमारे घर पधारने वाले थे। किन्तु मन अन्दर ही अन्दर हैरान था। शरीर शाम का काम शीघ्रता से निबटा कर नवागत् महात्मन् के आगमन की प्रतीक्षा में था। न जाने कैसे होंगे वे ? क्या वे परम पुरुष हमसे बोलेंगे ? बात करेंगे ? अपनायेंगे ? इस प्रकार के विचारों की लड़ी लगी हुई थी।

सायंकाल, हमें नवजीवन देने के लिये नव-प्राण

लेकर आ ही गया। ड्योढ़ी में से सहसा पिता जी का स्वर सुनाई पड़ा। 'अरे देखो! श्री बाबूजी महाराज पधारे हैं।' माता जी सहित हम सब दौड़ पड़े। तब तक पिता जी के पीछे ही आंगन में वे परम पुरुष भी चले आये थे। मैंने उन्हें देखा। देखते ही प्रणाम करना भी भूल गई और मुख से सहसा निकल पड़ा 'अरे बाबू जी! इतने दिनों से आपको ढूँढ़ रही थी आप आज मिले!' मैंने सुना, अपने कानों से सुना, एक अमृत वाणी 'बिटिया! हम भी तो तुम्हें ढूंढ़ रहे थे। तुम हमें आज मिलीं।' बस, मिलन का वह प्रथम दिन चिरसौभाग्य बन कर मेरे अन्तर में समा गया। वर्षों के दिन-रात की खोज आज सुहागिन बन गई थी।

वे परम प्रिय बैठे, कुछ खाया, फिर हम सभी को उपवेशन या सिटिंग (sitting) दिया। सिटिंग क्या थी मानो अंतर में ईश्वर ही ईश्वर भर गया हो। बिल्कुल वैसा ही वातावरण था उस स्वप्न वाले मन्दिर के अन्दर का। "बस" कहने पर भी नेत्र खुलना नहीं चाहते थे। अजीब दशा थी। अंतर में अलौकिक हालत में डूबे रहने की तबियत, और सामने बैठे उन्हें निरख पाने का हठ। नेत्र दुविधा में थे। सहसा

एक मधुर स्वर कर्ण कुहरों में प्रवेश कर गया 'बिटिया! आखें खोलो। अभी क्या देखा है ? यदि साहस है तो अब देखना।' मैंने भी तुरन्त कहा, 'आपके पाने की कठिनाइयों से लड़ते रहने में मैं पूर्ण सिपाही बन गई हूँ। आप मुझे कभी एक डग भी पीछे न पायेंगे।'

खोज पूरी हुई और सत्य-साधना का प्रारम्भ हो गया। 'सहज-मार्ग' साधना हमारे लिये वरदान स्वरूप ही बन कर आई। 'श्री रामचन्द्र मिशन' हमारा अपना ही घर हो गया। श्री बाबूजी ने हमारे जीवन की भटकती नौका को संभाल लिया। हम आनंद में बहते चल निकले, एक अनोखी दिशा में, अनन्त की ओर, दिव्य देश में! आइये, अब आपको भी ले चलें उस परम पावन देश में जहाँ की एक झलकमात्र ही हमें आत्म-विभोर करने के लिये पर्याप्त है।

मेरी कुल पुस्तक अनुभव के आधार पर ही रचित है। रचयिता कौन है ? इसका निर्णय प्रिय पाठकों पर ही मैंने छोड़ दिया है। सन् १९५७ की बात है। एक दिन जब श्री रामचन्द्र मिशन की 'सहज मार्ग पत्रिका' के प्रकाशन और उसमें लेख लिखने का प्रश्न उठा तो श्रद्धेय बाबू जी बोले, 'तुम लेख लिखो। तुम तो लिख सकती हो।' मैं अवाक्

उनका मुख देखती रह गई । क्या मैं ? जो केवल मात्र हिन्दी अपर-मिडिल तक पढ़ी हुई हूँ और उसे भूले भी ज़माना गुज़र गया है ।

क्या मैं लेख लिख सकूँगी ? पुनः वही मृदु एवं सशक्त स्वर सुनाई पड़ा 'तुम लिखोगी और बहुत अच्छा लिखोगी' । इस वाणी के साथ ही मैंने अनुभव किया कि लेखनशक्ति मेरे अन्तर में भर गई है । बस वही प्रथम दिन था लेखनी पकड़ने का । किन्तु अन्तर इतना ही रहा कि इस लेखनी ने कोरे विचारों को न लिख कर केवल वही लिखा जो अनुभव की दृष्टि ने हृदय में निखरा हुआ पाया ।

अब तो पाठक समझ गये होंगे कि रचयिता कौन है ? मैंने हर कोण से अनुभव किया है कि श्री बाबू जी को मानो ईश्वर ने अपनी शक्ति पर आधिपत्य देकर ही भेजा है । जिसके हृदय को उन्होंने जी से देखा वह ईश्वरीय-प्रकाश से प्रकाशित हो उठा । जो भी ईश्वरीय-गति जिसके हृदय में उतारना चाहा; हृदय को वैसे ही शुद्ध दशा में लाकर निखार दे दिया । इतना ही नहीं । ईश्वरीय-क्षेत्र में जो कुछ भी जिसके लिये, अनजाने में भी, उनके मुख से निकल गया, उसके अन्तर को वैसे ही शुद्ध रूप में संवारने

का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। मैंने अनेकों बार स्वयं में, और अनेक अभ्यासी हृदयों में, इस प्रकार के अनोखे दृश्य देखे हैं। आध्यात्मिक उन्नति देने के अपने अलौकिक कार्य में उनकी प्राणाहुति-शक्ति अचूक, एवं 'पढ़ने की शक्ति' अद्‌भुत है। पाठकगण इस क्षेत्र की अनुभूतियाँ शब्दावली द्वारा संजोई, इस लघु पुस्तिका में पायेंगे।

मुझे यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा कैसे मिली यह भी एक अनोखी घटना है। श्री बाबू जी महाराज की अनुपम कृपा से एक श्रेष्ठ स्थिति पर मुझमें विचारों का एक बहाव सा आने लगा। विचारों का सैलाब ऐसा था जो रोके नहीं रुक रहा था। मैं अपने विचारों को कभी किसी काग़ज़ पर, कभी डायरी में, लिखती जाती थी। मेरे इस कार्य को देखकर भाई गायकवाड़ ने एक दिन कहा कि 'आपके मन में विचारों का तांता लगा है तो आप एक पुस्तक लिख डालिये।' उनकी प्रेरणा से मैंने अपने अनुभवों व विचारों को पुस्तकबद्ध करने का निश्चय कर लिया। इस कार्य में मुझे जिन सत्संगी भाइयों एवं बहिनों से सहायता व प्रेरणा मिली है मैं उन सभी की आभारी हूँ। विशेष रूप से भाई कृष्ण स्वरूप निगम, भाई पी० सी०

शुक्ला जी, तथा एस० पी० कुलश्रेष्ठ जी, एवं शोभा, दक्षा, सुषमा और केसर बहिन का। इन सभी ने अपना बहुमूल्य सहयोग देकर मेरे इस पुण्य कार्य में जो सहायता दी है उसके लिये पूज्य बाबू जी महाराज से मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि वे अपनी कृपा एवं शक्ति से अपने बच्चों को भरपूर कर दें। सभी की ऐसी स्थिति हो जाय कि वे उन्हें देने पर लाचार कर दें!

लक्ष्य

बराबर यह सुनने में आता है कि वर्तमान युग विज्ञान का युग है। इस विज्ञान-युग को पूर्णता देने के लिये ही कदाचित् ईश्वर ने आध्यात्म-विज्ञान के महान्वेत्ता श्री रामचन्द्र जी महाराज, शाहजहाँपुर, को धरणी पर अवतरित किया है। श्री रामचन्द्र जी महाराज को घरेलू बोलचाल में हम लोग 'बाबूजी' कहते हैं। उनका यह वाक्य कि 'महापुरुष संसार में आते नही हैं, भेजे जाते हैं जब संसार को उनकी आवश्यकता होती है' बहुत सत्य प्रतीत होता है। विज्ञान युग की पूर्णता के लिये आध्यात्म-विज्ञान का अध्याय भी संसार के लिये स्पष्ट होना चाहिये। इसीलिये हमारे श्री बाबूजी ने जनसाधारण के लिये आध्यात्मिकता का अध्याय खोलकर व्यक्तिगत जीवन में पूर्णता प्रदान करने के लिये 'सहज-मार्ग' का अन्वेषण किया। वास्तव में 'सहजमार्ग' आत्मसाक्षात्कार का स्वाभाविक पथ (Natural Path of God Realisation) है।

आध्यात्मिक महान् गतियों को ज्यों का त्यों जनसाधारण के हृदयों में पूर्णरूपेण उतारने हेतु, अपनी 'प्राणाहुति-शक्ति' का सम्बल लिये हुए, के

हमारे बीच आये । आध्यात्मिक मार्ग में सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थिति को अपनी दृष्टि में रख कर मानव को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने का एवं ईश्वर-प्राप्ति कर सकने का एक स्वर्ण सुअवसर उन्होंने प्रदान किया है । आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर मानव का मार्ग-दर्शन कर सकने वाले साधु पुरुषों की भारत में न कभी कमी रही है, और न रहेगी । लेकिन गृहस्थ-आश्रम में रहते हुए, कर्तव्यों का सुचारू रूप से पालन करते हुए, हम अपने महानतम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें, सतत् एवं शाश्वत-आनन्द का रसा-स्वादन अपने जीवनकाल ही में कर सकें,—ऐसी मनः स्थिति का अपनी प्राणाहुति-शक्ति द्वारा हमारे मन में निखार लाने के लिये ही उन्होंने श्री रामचन्द्र मिशन का प्रतिपादन किया है ।

श्री रामचन्द्र मिशन के अन्तर्गत सहज-मार्ग साधना में ध्यान को सर्वोच्च स्थान दिया गया है । ईश्वरीय गतियों का आनन्द ईश्वर के ध्यान में सदैव डूबे रहने के माध्यम द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, इस मार्ग में साकार कर दिखाया गया है । आध्यात्मिकता के सूक्ष्मातिसूक्ष्म-तत्त्व को विचार में रखते हुए आज इसने सिद्ध कर दिया है कि आध्यात्मिक-विज्ञान ही

समस्त विज्ञान की जननी है । सहज-मार्ग द्वारा आध्यात्मिक उन्नति के अपार स्तरों को मैंने क्रियान्वित रूप में निखरते हुए स्वयं ही पाया है। श्री बाबू जी की प्राणाहुति शक्ति द्वारा समस्त अभ्यासियों में भी किसी न किसी स्तर पर दिव्य प्रकाश का निखार देखा जा सकता है । इतना ही नहीं, हममें से कोई भी अभ्यासी दृढ़तापूर्वक कह सकता है कि वास्तव में वह आध्यात्मिकता के उन्नति पथ पर अग्रसर होता जा रहा है । बस शर्त केवल एक है कि हमारा लक्ष्य पूर्णरूपेण 'ईश्वर-प्राप्ति' ही होना चाहिये । तभी संसार में उतरी हुई, ईश्वरीय-शक्ति पर आधिपत्य किये हुए, इस 'दिव्य-पुरुष' का सदुपयोग एवं सम्मान हो सकता है। भौतिक-लक्ष्य की पूर्ति की इच्छा तो भौतिक शक्ति पर आधिपत्य पाये हुए से ही करना चाहिये । ईश्वरीय शक्ति का सहारा हमें ईश्वर-प्राप्ति के लिये ही लेना चाहिये । तभी हमारे जीवन का परम लक्ष्य पूर्ण हो सकता है ।

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मानव-जीवन का कोई-न-कोई लक्ष्य अवश्य रहता है । बिना लक्ष्य का जीवन अधूरा, अपूर्ण, एवं पशुवत् ही होता है । पशु इसीलिये पशु है क्योंकि उसका कोई लक्ष्य नहीं ।

जब लक्ष्य नहीं है तो उसके बारे में सोचेगा ही क्या? और जब विचार-शक्ति ही नहीं है तो विचार भी कहाँ उठ सकते हैं? बिना विचार के जीवन ऐसा समझना चाहिये जैसे जड़। यद्यपि यह स्थिति एक दिन आध्यात्मिक-क्षेत्र में महान् भी हो सकती है; लेकिन कब? जब हम जीवन के परम-लक्ष्य की प्राप्ति के लिये दीवाने अपने अन्तिम-सत्य की ओर बढ़ते ही चले जाते हैं।

अतः प्रत्येक मानव का जीवन किसी न किसी लक्ष्य से सम्बन्धित रहता है। वह लक्ष्य वाह्य उन्नति के लिये भी हो सकता है। अर्थात्, मनुष्य के सांसारिक जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिये भी हो सकता है। यह आवश्यक भी है क्योंकि जिस जीवन में हमें जीना है उसे सुखी और सम्पन्न बनाये रखने से एक सन्तुष्टि रहती है। पर वाह्य-जीवन सुखी रखने का लक्ष्य सीमित ही होता है। इसीलिये हमारी विचार धारा सिकुड़ी-सी, और विचार भी सीमित से ही रहते हैं। सीमित होने के कारण इनमें सदैव संकुचितपना बना रहता है। जो संकुचित है वहाँ गहराई, गहनता, या उज्वलता नहीं पनप सकती है। वाह्य में यदि हम एक लक्ष्य से प्रारम्भ करते हैं तो

बाह्य आकर्षणों के साथ अनेकों लक्ष्य हमारे सामने फैल जाते हैं। अनेक लक्ष्यों के साथ विचार धारा भी भिन्न-भिन्न धाराओं में विभाजित हो जाती है। जिस प्रकार के लक्ष्य होते हैं वैसी ही विचारधारा भी आरम्भ हो जाती है! इसका फल यह होता है कि हम सन्तुलन खो बैठते हैं, क्योंकि एक जलधारा जब हज़ार धाराओं में बँट जाती है तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। जब हमारे ध्यान की धारा बाह्य में बिखरे तमाम आकर्षणों में फँसकर विभिन्नता को प्राप्त हो जाती है तो फिर कोई भी काम हम पूरे ध्यान व पूरी शक्ति से नहीं कर पाते हैं। इसीलिये हमारे मस्तिष्क का संतुलन भी डगमगा जाता है। यदि गहराई से देखा जाय तो यही कारण है कि हर जीवन अधूरा और असन्तुष्ट ही मिलेगा। यह कहा जा सकता है कि कवि, शायर, वैज्ञानिक, संगीतज्ञ, आदि का ध्यान क्रमशः अपने एक ही लक्ष्य में केन्द्रित रहता है और वह तत्सम्बन्धी ज्ञान की वृद्धि में लगा रहता है। लेकिन उस ज्ञान के साथ जो अनेक अन्य बौद्धिक ज्ञान जुड़े हुए होते हैं उनमें भी वह विस्तार तो अवश्य पाता रहता है, पर सन्तुष्टि नहीं पाता है। उदाहरण स्वरूप, जब एक वैज्ञानिक कोई अन्वेषण करता है

तो उसे वह वाह्य आकर्षणों के सजाने का प्रयत्न करता है। आकर्षक रूप देने में उसके ध्यान की डोर विभिन्न-रूपों की ओर खिंची रहती है। उस पर भी परिणाम यह होता है कि उस ज्ञान द्वारा वैज्ञानिक अपने ही दायरे में फैल कर दायरे के बन्धन में किसी सीमा तक सिमटा सा, ठिठुर कर रह जाता है। अन्त में, जब संसार से जाने की बारी आती है तो वह उस ज्ञान का दर्शन संसार को देकर चला जाता है। चूँकि वह ज्ञान विचार द्वारा वाह्य-उपकरणों का सहारा लेकर प्राप्त किया गया था, अतः वह वाह्य में, अनेक रूपों में, बिखर जाता है। अर्थात् उसने संसार की एक चीज़ से अनेक चीजें बनाने की बौद्धिक उपलब्धियाँ सामने रक्खा और, जिस शरीर के आधार पर रखा था वह विनष्ट हो गया। अब, जब दूसरा शरीर मिला तो उसकी रुचि दूसरी ओर गई और उसने उसी स्तर पर काम में जुट कर उन्नति किया। अपनी उपलब्धियाँ संसार को देकर फिर चल दिया। परिणामतः कर्ता तो वह होता है, भोक्ता कुछ दूसरे ही होते हैं। चन्द्रलोक में पहुँचने का यान जिन्होंने बनाया वे तो धरती पर से उसका नियंत्रण करते रहे पर जाने के आनन्द का भोग किन्हीं दूसरों को ही

मिला, और जनता केवल सुनकर या देखकर ही खुशियाँ प्राप्त कर सकी।

पर आध्यात्मिक उन्नति में ध्यान की गहराई में पैठने पर हम जितनी उन्नति करके आगे लक्ष्य की ओर बढ़ते जाते हैं हमारा पीछे का आधार मिटता जाता है। अतः हम पीछे देख नहीं सकते हैं। हमारी उन्नति का नियंत्रण भी मौजूदा स्थिति के आधार से 'मालिक' की प्राणाहुति शक्ति द्वारा होता रहता है। यह सहज-मार्ग-साधना द्वारा श्री बाबू जी की ही महानता है कि जो जगह छोड़कर हम उन्नति कर जाते हैं वह आधार ही मिट जाता है और हमारा नियंत्रण उससे आगे की उन्नत-दशा एवं शक्ति द्वारा होने लगता है। इसलिये वही ज्ञान अनन्त है जो ध्यान में लय रहने पर जाने कहाँ से सामने उभरता चला आता है। यही कारण है कि इसे हम किन्हीं विशिष्ट विषयों में रुचि रखने वाले व्यक्तियों को ही नहीं बल्कि सभी के लिये वातावरण में छोड़ते जाते हैं। हम स्वयं छोड़ते भी नहीं बल्कि हमारे में से धारा के रूप में, वाह्य में अन्तर की प्रतिच्छाया के रूप में, वह स्वतः ही फैलता जाता है क्योंकि अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ध्यान हमारे वास्त-

विक रूप को निखार लाने की प्राकृतिक साधना है। हम इसके कर्त्ता या विचारक नहीं होते हैं।

भौतिक खुशियाँ तो हमारे अन्तस् की नहीं होती हैं बल्कि वाह्य की ही होती हैं। वाह्य एवं बौद्धिक उपलब्धि में मनुष्य चाँद तक पहुँच गया है परन्तु उसमें जीवन के विनाश का भय रहता है। उसके स्वजन सम्बन्धी भी दिल में भय खाते रहते हैं। अर्थात् आशा, उत्कंठा एवं भय के मिश्रित प्रयत्नों में उसकी सफलता बिखरी रहती है। इसी प्रकार कवि, शायर, या संगीतज्ञ का लक्ष्य अपने अपने क्षेत्र में सदैव प्रगति पाना ही होता है लेकिन वह प्रगति अनेक धाराओं में विभाजित रहती है। जैसे एक संगीतज्ञ अनेक रागों की अदायगी भाँति-भाँति के उतार-चढ़ाव के साथ करता है। उसमें सुन्दर निखार लाने के लिये उन रागों में डूब कर ताल और लय के बन्धन के लिये उसे अनेक वाद्यों का अवलम्बन और बन्धन स्वीकार करना पड़ता है। बिना बन्धन के श्रोताओं की सीमित बुद्धि व स्वयं संगीतज्ञ को अपने दक्ष होने का आभास नहीं मिलता है। अर्थात्, एक लक्ष्य अनेक धाराओं में विभाजित हो जाता है। वह प्रत्येक राग पर विचार-धारा को उसके ही अनुरूप

को उसके ही अनुरूप मोड़ता है। ऐसे ही कवि और शायर अपने विचारों को भाँति-भाँति की लय मिश्रित शब्दावली में बाँधकर, भावों को विचार-शृंखला में पिरोकर, कविता और शायरी द्वारा प्रगट करते हैं। उन्हें भी खुशी होती है सुना कर, और सुनने वालों को खुशी होती है सुनकर। कुछ दिन याद भी ताज़ी रहती है। फिर अन्य चाहों का आवरण उसे ढक लेता है। इस प्रकार अदायगी, कथनी, रहनी और सुननी, इसी में हमारा सारा जीवन व्यतीत हो जाता है।

इसके विपरीत जब हम जीवन के 'परम लक्ष्य, की खोज अर्थात् आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर मोड़ ले लेते हैं तो हम परम्-तत्व की उपलब्धि स्वयं प्राणों में पाने लगते हैं। इससे हमारी उन्नति में स्वयं चार-चाँद लग जाते हैं। उस परम्-तत्व रूपी चांद के पावन-प्रकाश द्वारा समस्त को शान्ति रूपी शीतलता प्राप्त होती है और हम पवित्र ईश्वरीय-धारा रूपी चाँदनी में सराबोर हो जाते हैं। पर वाह्य (सांसारिक) लक्ष्यों के साथ इतनी विभिन्न इच्छायें जुड़ी रहती हैं कि मैंने देखा है कि मानव-अंतर बुझा-सा और कुल सिस्टम (system) सोया और थका-सा प्रतीत

होता है। यद्यपि हमें उसका भास नहीं होता है। हमें तो आभास तब मिलता है जब कोई प्राण-शक्ति द्वारा हमारी आंतरिक चेतना को थपथपाकर जागृत कर देता है 'अन्तिम लक्ष्य' को प्राप्त करने के लिये। बस फिर मन तड़प उठता है, विभोर हो उठता है 'वतन' की वापसी के लिये, वास्तविक स्वरूप को निखार लाने के लिये, और अपने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये। उस समय हमारे समक्ष केवल एक ही ध्यान रहता है, और हमारी विचार धारा का कुल रुख उसी ध्यान में प्रवेश कर जाता है। अर्थात् विचार, ध्यान सब एक ही सूत्र (परम् लक्ष्य) में प्रवेश पा जाते हैं। विभाजन एकता में प्रवेश कर जाता है। इसलिये शक्ति भी समस्त से सिमट कर एक लक्ष्य-धारा में प्रवेश पा जाती है। यह सारा कार्य स्वतः होता है। हमें इसके लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। न अदायगी, न विचारों की सींचन, और न उपलब्धियों की ओर तत्परता के लिये आकुल उत्कंठा ही रहती है। हम बस उस अनोखी उपलब्धि, अलौकिक ज्ञान, अनन्त शक्ति, जो हमारे में स्वतः उत्पन्न होती जाती है उसके दृष्टा व भोक्ता रहते हैं, कर्ता नहीं। इसके विपरीत भौतिकता में बिखरी विचारधारा में बहते

मार्ग पर अनन्त विचारों से चुसता हुआ मानव (विचार शक्ति को चूसते हैं) खोखली बुद्धि की तरह भाँति-भाँति से बनता और बिगड़ता रहता है। बाह्य में मानव ऐसे भुलावे में चलता रहता है जैसे वह सब कुछ बदल सकता है। लेकिन प्रकृति के नियमों को, जीवन की विभिन्न अवस्थाओं—गर्भ में रहने की पीड़ा, बाल्यकाल की अनबोलती कराह, और उसके बाद चाहों से भरी युवावस्था, फिर वृद्धावस्था की असमर्थता को कोई कभी भी नहीं टाल सका है। जहाँ प्रकृति का यह आकर्षणयुक्त पसारा बिखरा हुआ है वहीं लोगों में प्रकृति की इन अवस्थाओं की लाचारी भी उभरी पड़ी है। बस समाया हुआ भी, किन्तु सिमटा-सा या खोया-सा है तो मानव जीवन का परम लक्ष्य !

जब हमें कभी अपने मानव जीवन के परम लक्ष्य (ईश्वर) की याद आती है तो उसकी प्राप्ति के लिये हम लालायित हो उठते हैं और भाँति-भाँति के प्रयत्न करने में जुट जाते हैं। परम लक्ष्य की याद भी आई तो उसके लिये हमने बाह्य क्रियाओं से उसे प्राप्त करना चाहा। इससे लक्ष्य की पूर्ति होना तो दूर रहा, हम लक्ष्य से ओर भी दूर बहक जाते हैं। लक्ष्य से जुड़ने

के स्थान पर हम और भी दूर हो जाते हैं। बताने वाले से पूछा, तो किसी ने वाह्य-सिद्धि बता कर अपने से ही उलझा लिया, किसी ने बड़ी-बड़ी बातें कराकर हमें बातों से ही पराजित कर दिया। परिणाम यही हुआ कि लक्ष्य की याद आई भी तो रास्ता न मिला। रास्ता कौन बता सकता है ? वही जिसने लक्ष्य में पग कर, प्रेम, भक्ति से संवर कर, लय अवस्था में डूब कर अपने को 'उसके' ध्यान में ऐसा डुबो दिया हो कि उसे अपना होश ही शेष न रहा हो। सचमुच जिसका योग परम लक्ष्य (ईश्वर) से हो चुका होता है केवल वही उससे योग कराने की बारीकियाँ समझता है। जिन बातों से अभ्यासी को लक्ष्य तक पहुँचने में देर लगेगी, उसे स्वयं की योगशक्ति से वह ऐसा साफ़ कर देता है कि बुराइयाँ सदा के लिये साफ़ हो जाती हैं। ऐसा ही सद्गुरु हमारा मार्ग दर्शक बन कर हमें अपने परम लक्ष्य से योग देने में समर्थ हो सकता है। क्रियात्मक रूप में सहज-मार्ग-साधना (ध्यान) अपनाने और अपने आंतरिक अनुभवों के आधार पर, आज मैं यह कह सकती हूँ कि सरल-सा 'सहज मार्ग' हमारे सामने यही दर्शाता है कि ध्यान द्वारा वाह्य में बिखरी हमारी समस्त वृत्तियाँ सिमट कर

अन्तर में लक्ष्य की ओर रुख ले लेती हैं। श्री बाबूजी के कथनानुसार "हमने अपने हृदय में अन्य योग लेकर ही 'उससे' योग खोया है तो हृदय में ही उस पर ध्यान केन्द्रित करके लक्ष्य से योग (ध्यान द्वारा) दे कर वहाँ उसे पाया भी जा सकता है। दिल की खुजली दिमाग़ को खुजलाने से नहीं मिट सकती है। मन की पीड़ा बुद्धि के छलावे से दूर नहीं हो सकती है।" सत्य ही है कि "मन में मन का प्यारा है मगर मिलता नहीं, आँख में आँख का तारा है, मगर, मिलता नहीं।"

समर्थ सद्‌गुरु श्री बाबूजी की प्राणाहुति शक्ति मिलने पर परम लक्ष्य से चिपटने की ऐसी तड़पन अन्तर मन में उत्पन्न हो जाती है कि दृष्टि वाह्य से सिमट कर अन्तर में स्थित उस परम लक्ष्य (ईश्वर) से योग पाना शुरू कर देती है। फिर, उससे ही सम्बन्धित बुद्धि, विचार, सभी के रुख वाह्य से सिमट कर अन्तर में स्थित उस लक्ष्य की ओर गहन विस्तार पाने लगते हैं। लक्ष्य से योग पाने के लिये श्री बाबूजी महाराज उसके ध्यान (ईश्वर के) में लय रहने को ही मुख्य सूत्र मानते हैं। यह परम सत्य, सहज मार्ग द्वारा अपने लक्ष्य पर आरूढ़ हुए अभ्यासियों के सामने प्रत्यक्ष भी हुआ है, और होता रहता है। हमें जिसको

पाना है, उसके ही ध्यान में लवलीन रहना इससे बढ़कर कोई साधना हो ही नहीं सकती। वही साधना तेजस्वी और सफल होती है जिसके पीछे अन्तिम सत्य के लक्ष्य की खोज होती है तथा प्राणाहुति शक्ति का अवलम्बन सतत मिलता रहता है। सच्ची साधना का प्रतीक ध्यान की गहनता ही है। सच्ची साधना का आधार लेने से अन्तर में एकत्रित जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों के सभी आवरण झीने पड़ कर हटना शुरू हो जाते हैं। उनकी छाँह भी हमारे अन्तर को गन्दा नहीं कर पाती है। अन्तर का लक्ष्य दिव्य होने से वह ईश्वरीय प्रकाश का समावेश पाकर ऐसा निखर उठता है कि व्यक्तित्त्व पावन, सर्वप्रिय और प्रभावशाली हो जाता है। ऐसा अभ्यासी जिधर भी चला जाता है लोगों में, अनजाने ही, अन्तर की पवित्रता, शांति और परम लक्ष्य (ईश्वर) की चाह कुछ न कुछ जागृति हो ही जाती है। दिव्य जागरण (परम लक्ष्य) में प्राणाहुति शक्ति द्वारा जागा हुआ मानव, समस्त में दिव्य-जागरण ही फैलाता है, यह ध्रुव सत्य है। जब परम लक्ष्य का निखार हममें आता जाता है तो हमारा व्यक्तित्व उज्वल एवं भरा भरा-सा लगने लगता है। इसी भराव की अनुभूति से अन्तर पुलक-

पुलक उठता है। ऐसा महामानव संसार में रहते हुए उसे (संसार को) दिव्य प्रकाश से सजाता रहता है। यहाँ से जाने पर वह परम लक्ष्य से योग पाई दिव्यता और पूर्णता को अपने साथ ले जाता है, और संसार के लिये अपना वह दिव्य प्रसार छोड़ जाता है जो मानव में अनजाने ही दिव्यता का जागरण-सन्देश बनकर उसके सोये विवेक को युग-युग तक जागृति देता रहता है।

संसार में मानव के जहाँ तक नेह नाते, संयोग वियोग होते हैं उनमें अनजाने ही, कहीं स्थूल रूप में और कहीं सूक्ष्म रूप में, स्वार्थ का समावेश रहता ही है। पर ईश्वर प्राप्ति के परम योग का लक्ष्य अपनाने में स्वार्थ का वह पुट जाने कब और कैसे सदा-सदा के लिये ही विदा हो जाता है। हमें कुछ पता ही नहीं चल पाता है। हम अपने 'वतन' को लौट चलते हैं, न किसी के देने, न लेने में। न हमें पाने का ख्याल रह जाता है, न आने-जाने का चक्कर, न अगले जन्म का सामान रह जाता है, न बीते दिनों की याद रह जाती है। जैसे सर्वप्रथम फ़कीरी हालत में आये थे उसी फ़कीरी हालत में यहाँ से विदाई ले लेते हैं। समस्त में व्याप्त एक साम्य एवं सतत्

ईश्वरीय-धारा का प्रवाह हम स्वयं में प्रवाहित पाते हैं। इससे विश्व बंधुत्व हममें ऐसा जाग जाता है कि छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, का कुछ भाव ही नहीं रहता। सोने और मिट्टी में कोई अन्तर नहीं रह जाता। लेकिन यह उसका (सद्गुरु का) काम है कि अभ्यासी के द्वारा संसार की चीज़ों का उपयोग और उपभोग, अन्तर से अछूते रहते हुए भी, सुचारु रूप से होने लगता है। एक बार श्री बाबूजी ने लिखा था कि 'ऐसी फ़कीरी की दशा पर कोटि-कोटि सल्तनत (राज्य) निछावर हैं।'

इस स्तर के फ़कीर से यदि हम मानव-जीवन के परम-लक्ष्य (ईश्वर) की प्राप्ति चाहते हैं, मानव के अंतिम-सत्य की स्थिति का निखार ही अपने में लाना चाहते हैं, तो जो ईश्वरीय दौलत वह अपनी प्राणाहुति द्वारा हमारे लिये लुटाता है वह अनमोल होती है। जब परम-लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कोई अपनी इच्छा को 'उनकी' इच्छा में जोड़ देता है तभी 'उनके' देने की चाह भी ऐसी बेताब हो जाती है कि 'उनकी' वह हालत देखने वाली होती है। मैंने उस समय देखा है कि अभ्यासी का अंतर तो पुकारता है कि 'और लाओ, और लाओ', और वह 'और लाओ'

की ध्वनि उनकी 'और दो, और दो' की दिव्य-धुन को अपने में पाने लगती है। सचही श्रीबाबूजी के कथनानुसार अगर आप एक राजा से दो पैसे का सवाल करते हैं तो उसकी तौहीनी होती है। सल्तनत माँगते हैं तो वह अपनी समाई के ज्यादा होती है। इसलिये ऐसे मांगने वाले को कहीं से कुछ नहीं मिलता। आध्यात्मिकता के क्षेत्र में पैरते फ़कीर से यदि सांसारिक चमत्कार दिखाने को कहें तो बेचारा जो स्वयं को भी लुटाकर मिटा चुका है, इसका उत्तर भला क्या दे सकता है। मेरे श्री बाबूजी ने एक बार मुझे लिखा कि "बिटिया! ईश्वर का द्वार तभी मिलता है जब हम चमत्कार से बहुत परे उठ जाते हैं। अंतिम सत्य से योग पाये फ़कीर या योगी द्वारा दिव्य-चमत्कार स्वयं उतरते हैं, वह चमत्कार भला क्या दिखायेगा ?

अतः हमें सर्वप्रथम लक्ष्य निर्धारित करना चाहिये और उसकी प्राप्ति के ध्यान में लयलीन होजाना चाहिये। तभी 'वह' हमें मिलता है, और, अवश्य मिलता है। मैं तो यही कहूँगी कि फ़ुकरा हुए और फ़िकरों से घिरे, दर-दर की ख़ाक छानते रहे तो लाभ ही क्या हुआ ? महान्-लक्ष्य की खोज में यदि दिव्य फ़कीरी अपनाते हैं तो मानव-जीवन का लक्ष्य पूरा हो जाता हैं। ऐसा

फ़कीर संसार के प्राणियों को दिव्यता प्रदान करता है। उसे संसार से कुछ नहीं चाहिये। कैसी शान रहती है उसकी कि माँगा है तो जाकर उन्हीं से ही माँगा है, और, जीने के परम-लक्ष्य को ही माँगा है! इसी से मानव-जीवन भी धन्य हो जाता है।

लक्ष्य की सार्थकता

मेरे विचार से जीवन के दो मुख्य पहलू होते हैं जिनमें हम जीते हैं – विषय और लक्ष्य। विषय, भौतिकता से संबंधित वाह्य जीवन का होता हैं जिसमें हम जीते हैं। संसार में सुखी-जीवन जीने के उद्देश्य के अनुसार ही विषय का चयन होता है। इसलिये इसका कर्ता एवं भोक्ता शरीर होता है। विषय अनेक हो सकते हैं और उनका समाधान भी उन्हीं के अनुसार अलग-अलग ढंग से होता है। यह अलग-अलग ढंग ही वास्तव में हमारी समस्यायें बन जाती हैं। लड़की का विवाह एक विषय है, परन्तु उससे संबंधित समस्यायें एवं उनके समाधान के ढंग अनेक हो जाते हैं। इधर एक विषय समाप्त हुआ कि दूसरा सामने आ जाता है। अपने विषयों के साथ अनेक इच्छाओं का समावेश हमारी विचारधारा को अनेकता में बिखेर देता है। इसी कारण विषय अनित्य एवं सीमावद्ध होते हैं। विषयों का सम्बन्ध मस्तिष्क तक ही सीमित रहता है। यही कारण है कि प्रत्येक की विचारधारा एक दूसरे से अधिकतर मेल नही खाती और विचारधारा में एक

प्रकार का टकराव बना रहता है। एक अनुभव मेरा यह भी है कि भौतिक विषयों में बौद्धिक रमण एवं व्यस्तता हमारी शक्ति का बराबर ह्रास करती रहती है। इस लिये एक अज्ञात संकुचितपन एवं अस्थिरता विचारों में समायी मिलती है। इसी प्रकार एक विषय में दूसरे विषय की अनेक शृंखलायें एक से एक में जुड़ी रहती हैं।

लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति का होता है। इसलिये सार्थक होताहै। जीवन के श्रेष्ठ-लक्ष्य के चयन पर ही मानव-उन्नति की चरम सीमा निर्भर करती है। लक्ष्य जीवन को महान बनाने का, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार का होता है। इसलिये आंतरिक होता है, जिसमें हम फैलते और विकास पाते जाते हैं। परमानन्द की प्राप्ति के लिये एवं शाश्वत शांति का निखार लाने के लिये तथा अहं के सीमित दायरे के बंधनों से मुक्ति पाने के लिये, महत्‌जनों ने किसी विषय को न चुनकर जीवन के परम-लक्ष्य का ही सदैव चुनाव किया है। ईश्वर प्राप्ति का लक्ष्य अनंत में समाहित है। इसलिये ईश्वर प्राप्ति का परम-लक्ष्य होने से हमें भी अनंत में अर्थात् उसकी चरम सीमा पर पहुँचना ही होता है। लक्ष्य का सम्बंध ईश्वर से होता है। ईश्वर एक है।

अतः लक्ष्य भी एक ही हो सकता है। श्रेष्ठ एवं एक परम-लक्ष्य लेने से विचार की केवल एक ही धारा रहती है। परिणामस्वरूप, शक्ति का ह्रास होने के स्थान पर हम अन्दर शक्ति सम्पन्न होते जाते हैं। इसका कर्ता एवं भोक्ता शरीर नहीं होता, वरन् हमारा अन्तर एवं आत्मा होती है। इसलिये यह सतत् रहता है और असीमित होता चला जाता है। हमारी कोई समस्या भी नहीं रह जाती है बजाय इसके कि ईश्वर का साक्षात्कार अथवा वतन की वापसी जल्दी से जल्दी हो जाय।

वास्तव में, जीवन के लक्ष्य का सम्बन्ध हृदय से होता है और हमारा यह छोटा हृदय उस महत् हृदय से सम्बन्धित है। अतः जब हम साक्षात्कार का लक्ष्य लेकर हृदय में ध्यान द्वारा प्रवेश करते हैं तो हम अवश्य ही एक दिन ध्यान की धारा द्वारा उस महत् एवं विराट हृदय में जा पहुंचते हैं। वहीं से एक-एक कदम पर हम लक्ष्य की समीपता का आभास पाने लगते हैं। महत्-हृदय में फैलने से हम, जो अपने को 'हम' में सीमाबद्ध पाते थे, अब एक अनोखी स्वतंत्रता का आभास पाने लगते हैं। ध्यान द्वारा लक्ष्य में जब हम प्रवेश करते हैं तो उसका ख्याल आते ही हमारे अंतर में दिव्य-शक्ति का समावेश होने लगता है।

इसका कारण यह है कि लक्ष्य, परमात्मा में समाहित, शक्ति-सम्पन्न, एवं शाश्वत होता है। हमारी विचार-धारा केवल उस लक्ष्य से ही एक होने के कारण समत्व में फैलाव पाने लगती है। उसका प्रभाव यह होता है कि हमारी विचारधारा का टकराव किसी से नहीं होता। मेल सबसे रहता है। हमारा सर्वस्व लक्ष्य के प्रति समर्पित रहता है। इसलिए वाह्य में भी—बात में, रहनी में अंतर की दिव्यता की कुछ न कुछ झलक मिलने ही लगतीं है। जब वृत्ति वतन या लक्ष्य की ओर लगी रहती है तो संसार में हमारा जीवन एक वैरागी सा स्वतः ही हो जाता है। जिससे मनुष्य को जीवन मिला है, उस लक्ष्य की प्राप्ति ही मानव जीवन का सच्चा लक्ष्य हो सकता है जहाँ से मनुष्य को जीवन मिला है वहीं की वापसी में उसका विराट एवं दिव्यलक्ष्य फैला हुआ है।

किसी भी भौतिक संकल्प की पूर्ति के लिये स्वयं ही उपाय या कार्य करने पड़ते हैं। कार्य होने से इसकी प्रतिक्रिया का भी हमें सामना करना पड़ता है पर जब हमारा संकल्प श्रेष्ठ एवं लक्ष्य के साक्षात्कार के लिये होता है तो जो भी कार्य हमारे द्वारा होते हैं उनके निशान अथवा संस्कार हमारे अंतर में पहले तो धीमे पड़ते हैं और फिर उनका बनना ही बन्द हो

जाता है । जब संस्कार बनना बन्द हो जाते हैं तो फिर ध्यान (जो अंतर पर छाता चला जाता है) की प्रति-छाया-स्वरूप सूक्ष्म-शरीर पर से जन्म जन्मान्तरों के पड़े संस्कारों के निशान भी मिटना शुरु हो जाते हैं। यह कार्य इतनी जल्दी होने लगता है कि हम स्वयं देख पाते हैं कि संस्कार हमें छोड़कर जा रहे हैं और दिव्यता हममें फैलती जा रही है । मुझे अच्छी तरह से स्मरण है कि ऐसी दिव्य अवस्था का अनुभव करने पर मैंने परम् श्रद्धेय श्री बाबूजी को लिखा था कि "न जाने क्यों मेरे संस्कार मुझे छोड़ आपकी ओर मेरे रोकने पर भी चले जा रहें हैं।" कैसा अनूठा उनका उत्तर था कि "जब लय अवस्था अधिक बढ़ जाती है अर्थात् मालिक का पसारा सूक्ष्म में भी होना शुरु हो जाता है तो संस्कारों को साफ़ होना ही पड़ता है ।" प्राकृतिक रूप में साफ़ होने पर तो समय लग सकता है । लेकिन चूँकि अभ्यासी की लय अवस्था पल भर भी रुक नहीं सकती इसलिये संस्कार अभ्यासी को छोड़कर गुरू के पास जाने लगते हैं ऐसा ही प्रकृति का नियम है । अभ्यासी को दिव्यता में सराबोर करने का भार गुरु पर ही होता है । उन्होंने लिखा कि "अब तुम फ़िक्र न करो । यह मेरे ऊपर निर्भर करता है कि संस्कारों को

अपनी इच्छाशक्ति से मिटा दूँ अथवा कुछ भोगकर शीघ्र समाप्त कर दूँ ।" इस स्तर पर पहुँचने पर नवीन चोला मिलने का कारण समाप्त हो जाता है। अब सद्‌गुरु के ज़रिये लय अवस्था दिव्य अर्थात सूक्ष्म में होना प्रारम्भ हो जाती है।

लक्ष्य-प्राप्ति का उद्‌देश्य होने से प्रतिक्रिया-स्वरुप अब हमारे कर्मों का भोग नहीं तैयार होता। वरन्, उसकी प्राप्ति के लिये जिन बातों की ज़रूरत होती है—जैसे ज्ञान, भक्ति, लय अवस्था—वे सब खुद ही हममें विकास पाने लगते हैं। जीवन का लक्ष्य श्रेष्ठ लेने से हमारी गति सूक्ष्म की ओर बढ़ना शुरू कर देती है और हमारा फैलाव विराट् अर्थात ब्रह्माण्ड में होने लगता है। यहां पर मैंने पाया कि संसार में घटित होने वाली सभी घटनायें सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड में घटित होती हैं, फिर संसार में आती हैं। श्री बाबूजी ने लिखा था कि "भगवान कृष्ण ने अर्जुन को यही विराट दशा (ब्रह्माण्डकी) दिखाया था। कृष्ण ते कहा था कि कौरव तो मरे हुए हैं। तू तो निमित मात्र बन जा।" इसमें एक विशेषता मैंने यह पाई है कि जिस सूक्ष्म दशा को दिखाना है, बगैर वैसी ही सूक्ष्म दृष्टि हुए हम जहाँ की गति का अनुभव कर ही नही सकते।

इसलिये सूक्ष्म एवं अनुरूप-दृष्टि अथवा दिव्य-दृष्टि होना तो आवश्यक होता ही है । किसी (अभ्यासी) को जब वैसी दशा अथवा कोई भी अलौकिक-दिव्य गति दिखाने के निमित्त अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा फैलाया जाता है तो उसी के अनुरूप दृष्टि का भी उसमें (अभ्यासी) प्रवेश अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा दे देते हैं । पर ज्योंही वह पसारा हटाया कि वह उस गति एवं दृष्टि दोनों से रहित हो जाता है । परन्तु इस सम्बंध में मेरा स्वयं का अनुभव है कि जब हम उस दिव्य सद्‌गुरू की पावन-प्राणाहुति-शक्ति द्वारा प्रवेश करके फिर फैलाव के सहित लय होना शुरू होते हैं तो वह विराट परम-स्थिति हमारी अपनी हो जाती है, हमारा एक अंग बन जाती है । लेकिन हमें तो लक्ष्य-प्राप्ति बेचैन किये है । इसलिये विराट की परम-गति पाये हुए भी, हम वैरागी से हुए आगे के क्षेत्र में बढ़ चलते हैं ।

ईश्वर-प्राप्ति के श्रेष्ठ लक्ष्य को सामने रखकर मनन करने से ही ध्यान की शक्ल पैदा होती है । भौतिकता के किसी उद्देश्य को सामने रखकर मनन करने से ध्यान की शक्ल हरगिज़ पैदा नहीं होगी । यह अवश्य है कि उस विषय पर विचार तो शुरू ही हो

जायेंगे और सीमाबद्धता के कारण विचार की भी सही-गलत अनेक धारायें हो जायेंगी ।

वास्तव में, विचार ही मूल-आधार होता है बंधन एवं मोक्ष का । इसलिये जब हमारा विचार एवं हमारी आँख 'उस' पर अर्थात् ईश्वर प्राप्ति की ओर लग जाती है और हृदय बार बार उसका मनन करने लग जाता है तब हर विचार अनुरूप-विचारों को ही उत्पन्न करता है जो लक्ष्य प्राप्त करने में सहायक होते हैं । विचार का अजीब ढंग मैंने खुद देखा है कि जैसा विषय मस्तिष्क में होगा उसके अनुसार ही विचार शुरू हो जायेंगे । फिर विचारों के अनुसार ही आधार पर आधार बनना शुरू हो जाते हैं । मान लीजिये कि हमें किसी से ईर्ष्या है । विचार का आधार ईर्ष्या होने के कारण विचार की जो भी उत्पत्ति होगी वह आधार के हिसाब से ईर्ष्यामय ही होगी । इससे हानि यह होती है कि आधार और दृढ़ हो जाता है । अब इसकी प्रतिक्रिया में जो दूसरा विचार जन्म लेता है वह होगा बदले की भावना का । अब जो बदले की भावना का विचार आया तो फिर विचार उसी आधार के हिसाब से चालू हो जाते हैं । चूँकि यह हमारा बनाया आधार है अतः नश्वर है ।

एक संस्कार के भोग के बाद दूसरे में बदलते रहते हैं।

वास्तव में, मानव जीवन के लक्ष्य का मूल आधार तो ईश्वर-प्राप्ति ही होना चाहिये। मैंने देखा है कि जब यही हमारी स्थिति हो जाती है, अर्थात् श्रेष्ठ लक्ष्य पर निगाह टिक जाती है, तब फिर न कोई आधार बनता है, न बिगड़ता है, न विचारों की लड़ियाँ ही उत्पन्न होने पाती हैं, विचार उठाने से भी नहीं उठ पाते हैं। सारी गड़बड़ी, सारी अशान्ति, सब शान्त होकर एक साम्यावस्था का विस्तार हमारे कुल में व्याप्त होने लगता है। मेरी समझ में सतत् स्मरण की महिमा इसीलिये है कि विचार के मुख्य आधार को हम स्मरण द्वारा छूते रहें। फिर विचारों को शक्ति देने वाले हम नहीं होंगे। उन्हें मोड़-तोड़कर बिगाड़ने वाले हम नहीं होंगे। विचारों का मुख्य आधार तो आत्मा से सम्बन्धित है। इसलिए वहीं से विचारों की वैसी ही पावन शक्ति मिलना प्रारम्भ हो जाती है। तब आत्म-कल्याण की राह में आये हमारे बंधन कटने लग जाते हैं!

हम कहते हैं कि हम 'मिशन' अथवा 'मालिक' के लिये ईमानदार व सच्चे हैं। ऐसा कहने का अर्थ

यह नहीं होता कि हमारी रहनी में वह सत्य पूर्ण रूप से जागरूक हो गया है। बल्कि इससे एक अत्यन्त लाभ यह होता है कि विचारों का आधार श्री बाबूजी के कथनानुसार, सत्य पर हो जाता है। उपर्युक्त कथन से यही प्रतीत होता है कि हृदय का संबंध विचार धारा के द्वारा सत्यता की उस पवित्र हालत से हो जाता है जिसका संबंध सत्य आत्म-तत्व से होता है। इस दशा में प्रवेश पाने पर सत्यता का निखार हमारे चेहरे से खुद ही प्रकट होने लगता है। इसलिए सहज मार्ग द्वारा आत्मिक-क्षेत्र में पैरने पर, सदैव आगे बढ़ते रहने पर, मैंने सारे आधारों को खुद मिटते देखा है। इसके बाद पाया वह चटियल मैदान, जहाँ पर कोई आधार क़ायम हो ही नहीं सकता। जहाँ पर कोई नींव रक्खी ही नहीं जा सकती है। इसलिये इस स्तर पर आ कर खुद में तो व्यर्थ विचार कभी उठते ही नहीं हैं। कार्य भी हमारे द्वारा इस प्रकार से होते रहते हैं जिससे न विचारों का संबंध होता है और न हमसे ही कुछ संबंध होता है। हमारा संबंध हमसे ही टूट जाता है। इसीलिये कार्यों की प्रतिक्रिया कहीं पैदा नहीं होती। हमारे द्वारा जो भी होता है वह उसकी इच्छा से अथवा दिव्य शक्ति

द्वारा स्वतः ही और सहज ही होता रहता है। ऐसी ही दशा आने पर गीता का वह कथन हमारे में चरितार्थ हो जाता है कि 'गुण, गुणेश वरतन्ते' अर्थात् गुण गुण में ही बरतते हैं। हमारे अन्दर न कुछ बनता है, न बिगड़ता है। हमारी आन्तरिक स्थिति एक सी बनी रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसा आधार अपनायेंगे वैसे ही विचारों की उत्पत्ति होगी। इसलिये मुझे यह बहुत अच्छा लगता है कि पहले विचार द्वारा हम हृदय में ईश्वर-प्राप्ति-के-लक्ष्य-के-आधार को दृढ़ता देते हैं, फिर उसका ही ध्यान रखने का प्रयत्न करते रहते हैं। इस विचार के सूत्र, अर्थात् ध्यान को और भी दृढ़ बनाते चले जाते हैं। हमने सत्य-लक्ष्य पर पहुँचने के लिये ध्यान किया था। इसलिये उसको सफलता देने के लिये श्री बाबू जी की प्राणाहुति की सहायता द्वारा, ईश्वर-शक्ति द्वारा हमारे अन्तर की शुद्धता स्वतः ही होने लगती है। जितना हृदय स्वच्छ और हलका होता जाता है उसमें उन्नति के लिये द्विगुणित शक्ति समाविष्ट होती जाती है। एक दिन, 'मालिक' की कृपा से जब हम लक्ष्य के आधार (मालिक) में ही लय होने लगते हैं तो मैंने यह प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि मानों अब आधार न

होने से हमारा लक्ष्य-बिन्दु कुल आधार में ही समा गया हो। अर्थात् हम सिन्धु में बिन्दु समाया हुआ पाते हैं। जब आधार का फैलाव 'मालिक' में हो जाता है और मालिक कुल 'हम' में समा जाता है, (मिल कर व्यापक होता जाता है) तभी मानों 'बिन्दु में सिन्धु समाने' की हालत चरितार्थ हो जाती है। कुल में परम लक्ष्य ही व्यापक मिलने लगता है।

संसार छोड़कर जंगल में जा भागने से जीवन का परम-लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। संसार के आकर्षणों से बचने के लिये पूजा, पाठ, मंदिर, इत्यादि के आकर्षणों में फंसने से भी जीवन का परम-लक्ष्य पूर्ण नहीं होता है। लक्ष्य को स्मरण में भरकर, उसके ध्यान में लयलीन रहने से, और सद्गुरू की प्राणाहुति शक्ति की आन्तरिक सहायता एवं आंतरिक सत्संग की प्राप्ति से ही हम जीवन के परम लक्ष्य, 'ईश्वर', का साक्षात्कार कर पाते हैं, उसमें लीन हो जाते हैं। मानव जीवन का परम-लक्ष्य समस्त को परम आनन्द एवं शाश्वत शान्ति देकर अनन्त की शक्ति की ओर ले जाता है।

ध्यान

साधना जो भी हम करते हैं केवल इसलिये कि उतने समय तक हमें ईश्वर का ध्यान रहे। हमें उसके अस्तित्व में विश्वास रहे। उतने समय के लिये हमारा ध्यान वाह्य से खिचकर साध्य में उलझ जाय। अत: जीवन के परम लक्ष्य का ध्यान दिलाने के लिये, उसकी याद रखने में सहारा देने के लिये ही हम साधना करते हैं। लक्ष्य की ओर तत्पर रहने का जो हमारा प्रयत्न रहता है वह सतत् ध्यान ही वास्तविक साधना है। कुछ लोग बिना लक्ष्य समझे ही ध्यान करते हैं जिसके परिणाम का पता न गुरू को होता और न शिष्य को ही होता है।

मैंने कुछ अभ्यासियों को जब प्राणाहुति द्वारा पूजा कराने के बाद पूछा कि 'क्या आप ध्यान मस्तक पर करते आये हैं ?' उन्होंने बताया 'हाँ'। मैंने पूछा 'अपने आप ही किया अथवा गुरू ने बताया था ?' उन्होंने कहा—'गुरू ने बताया था।' मैंने पूछा कि 'क्या शांति कभी मिली ?' बोले 'नहीं'। मैंने कहा कि 'आप हृदय पर ध्यान तो रख न सके होंगे

और न कभी रख सकेंगे क्योंकि बिना लक्ष्य के किसी भी विन्दु या चक्र पर ध्यान करने का परिणाम यही हुआ है। जो चक्र अथवा बिन्दु ध्यान के लिये आपने चुना है वह शक्ति-वितरण का स्थान है। इसलिये शान्ति तो कभी आपको मिल ही नहीं सकती है।' एक अन्य नये अभ्यासी को जब मैंने प्राणाहुति द्वारा पूजा आरम्भ करवायी तो पाया कि वह मस्तक पर ध्यान करता था। देखा कि कुल माथे में अत्यधिक प्रकाश था। इससे ध्यान में आँखें बन्द करते ही उसे ऐसी चकाचौंध दिखलाई देती थी कि वह आंख बन्द करके बैठ नहीं पाता था। उसके सिर में दर्द होने लगता था। उसकी आँखों में कुछ असमान्यता-सी मैंने पाई। हृदय पर तो उसका ध्यान क्षण भर को भी ठहर नहीं सका था। मेरी सभी बातें उसने स्वीकार कीं और दुःखी होकर परेशानी को दूर करने की प्रार्थना की। बात यह थी कि गुरू ने ध्यान तो बता दिया पर यह न समझा था कि वह चक्र शक्ति-वितरण का था। इसलिये शान्ति मिलने का तो प्रश्न ही कहां उठता? ध्यान करते रहने से जो बिन्दु खुल चुका था उसके न उपयोग का पता था न अत्यधिक प्रकाश को संभालने का ही ज्ञान था। गीता में भगवान श्रीकृष्ण

का यह कथन भी कदाचित् वे भूल गये कि 'जो भूत को पूजते हैं वह भूत को प्राप्त होते हैं, मेरे पूजने वाले मुझे प्राप्त करते हैं'।

इसी प्रकार श्री बाबूजी के पास भी बिना लक्ष्य निर्धारित किए चाहे जिस बिन्दु पर ध्यान किये हुये लोग आते हैं। उनमें कई बार मैंने यह पाया कि उनके कानों के सुनने की शक्ति वंशी-की-सी धुन और नाद सुनने में चली गई होती है। यहाँ तक कि दिमाग़ी-संतुलन भी बिगड़ जाता है। पर, ईश्वर प्राप्ति के लक्ष्य में कहीं कोई गलती हो ही नहीं सकती है। हृदय में ध्यान की शक्ति समाहित है। जब हम उस श्रेष्ठ लक्ष्य की ओर अपने ध्यान को मोड़ दे देते हैं तो वह हमारे विकास में बराबर सहायक होता है। सहज-मार्ग साधना में हम पहले श्रेष्ठ लक्ष्य को चुनकर उसकी प्राप्ति के लिये हृदय पर ध्यान आरम्भ करते हैं। अनुभव द्वारा मैंने पाया है कि हर चक्र का संबंध हृदय से होता है। हृदय पर ध्यान करने से प्राणाहुति जब हृदय में हमें श्री बाबूजी द्वारा मिलती है तो कुल चक्रों में, हर बिन्दु पर, उन्हें जागृत अवस्था में ले आने के लिये स्पन्दन (vibration) शुरू हो जाते हैं। श्रेष्ठ लक्ष्य समक्ष होने से जो भी शक्ति चक्रों के

जागृति अवस्था में आ जाने पर बढ़ती रहती है तथा हृदय की शक्ति, पूर्णतः, लक्ष्य प्राप्ति की ओर स्वतः ही मुड़ती चली जाती है । इससे हमारे लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग में हमारी उन्नति दृढ़ एवं गति तीव्र होती चली जाती है । ज्यों ज्यों जागृति होती है त्यों त्यों शक्ति एक से एक में द्विगुणित होती हुई एक दिन अबाध गति के रूप में हो जाती है । अन्तर-शक्ति अमोघ हो जाती है । यही सहज मार्ग साधना के अन्तर्गत ध्यान का गहन राज़ है जो प्राणाहुति का योग पाकर उस दिव्य के महत् राज़ को हमारे समक्ष खोलता चलता है । इसका आंतरिक राज़ मैंने यह पाया है कि वह दिव्य राज़ खुलकर, हम में समा कर, हमें व्यापक बनाता चलता है ।

श्री बाबू जी साध्य की सान्निध्यता प्राप्त करने के लिये ध्यान से ही साधना आरम्भ कराते हैं । किसी अन्य साधन का सहारा नहीं लेते हैं। साधन बाह्य होते हैं, साधना हृदय से लगी होती है। साधन संकेत देते हैं लक्ष्य के ध्यान का, इसलिये ध्यान ही आंतरिक-ईश्वरीय-साधना हो सकती है । सहज-मार्ग में ईश्वर को पाने के लिये हृदय में उसके पावन दिव्य प्रकाश के ध्यान का सहारा लेने से, हम प्रथम दिन से ही

बाह्यमुखी से अन्तर्मुखी होना शुरू कर देते हैं । हृदय में ईश्वर का ध्यान करने का प्रयोजन केवल इतना है कि हम बाह्यमुखी से अन्तर्मुखी हो जायें । इसका सुन्दर परिणाम हमें यह मिलता है कि वृत्तियों के अन्तर्मुखी होने से हम बाह्य में रहकर भी, अन्तर में स्थित, ध्यान द्वारा अनन्त-ईश्वरीय-आनन्द के रस का पान कर सकते हैं । वृत्तियों के अन्तर्मुखी होने से दूसरा सुन्दर परिणाम यह भी मिलता है कि बाह्य में कर्म करते हुए भी बाह्य की गन्दगी, या आकर्षणों की छाप, अर्थात् बाह्य संस्कार से हृदय को बचाये रखकर निरन्तर ईश्वरीय धारा में बहते हुए हम ईश्वर-प्राप्ति के लक्ष्य में सफलता प्राप्त करते हैं ।

हमारा मन इन्द्रियों, बुद्धि सबका राजा होता है । मन ही ईश्वर प्राप्ति के लिये हमारे पास एकमात्र औजार है । मन में ईश्वर का ध्यान रखने से कर्म में भी ईश्वरीय-रंग और साम्यता का निखार एवं दिव्यता की झलक मिलना शुरू हो जाती है । मन-रूपो राजा के बदलते ही प्रजा में वही ज्योति जगमगा उठती है । अन्तर, दिव्यता के रस में डूबा सा रहने लगता है और हमारी कोशिश अर्थात् सतत् स्मरण एक दिन दिव्यता की मिठास अर्थात् लय

अवस्था को हृदय में उतार लाता है। एक दिन ऐसा आता है कि मन, बुद्धि, चित्त, अर्थात् कुल का अलग-अलग अस्तित्व समाप्त होकर एक ही ईश्वरीय-परम-तत्व का संचार हमारे कुल में जागृत हो उठता है। ईश्वर का स्थूल उसका प्रकाश ही हो सकता है। हृदय में ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य लेकर, आँख बन्द कर, उसके प्रकाश में दृष्टि डुबोये रखने से, ध्यान में समाहित रहते रहते, एक दिन उस दिव्य में हमारा प्रवेश हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि उसका स्थूल अर्थात् दिव्य प्रकाश का ख्याल एक दिन हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है और ध्यान उसके स्थूल को भेद कर सूक्ष्म में प्रवेश पाने लगता है। अब ध्यान की जो सूक्ष्म स्थिति हमारे सामने आती है, दृष्टि हमें उसमें ही लय करना शुरू कर देती है। प्रकाश के अनुमान (supposition of the Divine Light) का विचार भी ध्यान में ही समा जाता है क्योंकि अनुमान हमने कहीं ध्यान टिकाने के ही लिए लिया था। अब जब ध्यान के सहारे ध्येय में ही प्रवेश पाने लगे अर्थात् ईश्वरीय-प्रकाश द्वारा ईश्वर में प्रवेश पाने लगे तो फिर प्रकाश या किसी भी अनुमान की आवश्यता समाप्त ह‍ जाती है। जब ध्यान में मन को कुछ मिल लगा, आनन्द

या हल्कापन कुछ भी, तो बार-बार ध्यान में उस आनन्द का स्मरण आने लगता है, और, ध्यान में मन उस अलौकिक आनन्द की गहराई में स्वत: ही प्रवेश करने लगता है। ध्यान में पाये आनन्द की अनुभूति द्वारा सतत् स्मरण का सूत्र हमारे हाथ में आ ही जाता है। फलत: हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर पाने की राह में अपने को और भी समर्थ पाने लगते हैं। अर्थात् लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक, सतत् स्मरण की कड़ी, हमारे अंतर में स्वत: ही निखर उठती है। हमें बाह्य साधन के बन्धन से मुक्त करके, लक्ष्य की ओर प्रगति करने में, हमारा उतना समय बचा लेती है। लक्ष्य के ध्यान में, अंतर में डूबे रहने से, लक्ष्य की सामीप्यता एवं उसमें तन्मयता ही हमें मिलती जाती है। इससे प्रथम दिन से ही हमारे और उसके बीच की दूरी घटना आरम्भ हो जाती है। मिलन की आशा अपने आप ही हृदय में पनपने लगती है। अन्तर में एक अनोखी दृढ़ता हम पाने लगते हैं। इस दृढ़ता के पनपने पर हम इसे आत्म-विश्वास का नाम देते हैं।

ध्यान की तन्मयता ही श्रेष्ठ साधना है। यह स्पष्ट है कि लक्ष्य के अनुरूप ही साधना अथवा उपाय

का अवलम्बन लेने से हम सहज ही उसकी प्राप्ति कर सकते हैं। श्री बाबूजी का कहना है कि 'सुई को उठाने के लिये हम क्रेन को काम में लायेंगे तो क्रेन का बोझ ढोने के अतिरिक्त हमें सफलता कदापि नहीं मिल सकती है।' अतः सर्वव्यापी सर्वेश्वर की प्रत्यक्षता प्राप्त करने के लिये हमें किसी भी बोझिल क्रिया (साधन) की आवश्यकता नहीं होती। इसके लिये तो सबसे सरल, सहज एवं सानुरूप उपाय ध्यान ही है। ध्यान सहज है क्योंकि केवल ध्यान ही को हम जितनी भी माला में चाहें स्मरण में, हृदय में, विचार में, सजोये रख सकते हैं। यह कोई क्रिया नहीं है जिसका बोझ हमें ढोना पड़ता है। यह तो मानव को, जीवन के परम लक्ष्य से योग दिलाने की मात्र कड़ी है, जो हमें उसमें योग देकर फिर एक हो जायेगी। ध्यान का कोई अपना अलग अस्तित्व नहीं होता। यह तो किसी अव्यक्त को व्यक्त कर पाने का, किसी सर्वव्यापी शक्ति को हममें पूर्णतया उतार कर रमा देने का, एक सूत्र अथवा सहारा मात्र है।

वास्तव में, ईश्वर को प्रत्यक्ष कर पाने का प्राकृतिक उपाय केवल उसका ध्यान ही हो सकता है। उससे

योग देने वाला योग यही है। सतत् ध्यान के द्वारा ही हमारी सम्पूर्ण मनोवृत्ति एवं विचार परम लक्ष्य (ईश्वर) का साक्षात्कार हममें उतार पाने के लिये ऊर्ध्व में ही उन्मुख रहने लगते हैं । तभी मैंने ऐसा देखा है कि ध्यान द्वारा एक दिन हम समस्त बंधनों से मुक्ति पाकर, परम् स्वतंत्र सुख में विलीन हो, बजाय संसार के, ईश्वरीय-गति अथवा ईश्वरीय देश (सालोक्यता की स्थिति) में रहना प्रारंभ कर देते हैं । भौतिकता के प्रति हमारी मन:स्थिति कुछ ऐसी हो जाती है कि हमें लगता है कि संसार में रहते हुए भी हम कभी इसमें उतरते ही नहीं हैं। ज्यों-ज्यों ईश्वरीय-सान्निध्यता हमें मिलती जाती है उसका उज्जवल विशुद्ध, प्रकाश हमारे कुल में प्रकाशित होता जाता है । दिव्य-सान्निध्य से मिलती पावन शक्ति हमारे सिस्टम (system) में से अपवित्रता, अनौचित्य, आदि को स्वयं ही बाहर फेंकना शुरू कर देती है । परिणाम-स्वरूप, हम अपने सिस्टम को बहुत पवित्र अनुभव करने लगते हैं । दिव्य-शक्ति का साया हमारे अन्तर में ऐसा पलने लगता है कि एक अनोखी दृढ़ता और मिलन की आशा से हमारा अन्तर पुलक उठता है । वह दिव्य सत्य हमारे अन्तर में सजीव

होने लगता है और पावन ईश्वरीय-धारा का प्रवाह हम अपने में निरन्तर पाने लगते हैं। निरन्तर मिलती सान्निध्यता के अनुभव को ही हम परमानन्द का नाम दे देते हैं। बाह्य साधना में लीन रहते समय जो कुछ हमें अच्छा लगता था उसका प्रतिफल तो क्रिया करने (अर्थात् पूजा) के समय तक ही सीमित रहता था। लेकिन ध्यान द्वारा जो आनन्द हमारे मन में प्रस्फुटित होता है वह (आनन्द) स्वतः सतत् अंतर में व्याप्त ही रहता है। जब भी दृष्टि अंतर में जाती है वह आनन्द मौजूद मिलता है क्योंकि उसका योग ईश्वर से होता है, जो सतत् है। इस दशा का प्रतिबिम्ब हमारी बाह्य करनी में ऐसा उतरता है कि हम किसी भी परिस्थिति में आंतरिक संतुलन रख पाने में समर्थ हो पाते हैं। जब ध्यान द्वारा सच्चा आनन्द अंतर में प्रस्फुटित हो जाता है तो स्वतः ही हमारा ध्यान बाहर कभी जाता ही नहीं। हम पाते हैं कि 'दिल में है तस्वीरे-यार, जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली'। इस प्रकार ध्यान की लौ ने जब लक्ष्य से बाँध दिया तो योग स्थापित होना शुरू हो जाता है। लक्ष्य को पूर्ण रूप से प्रगट कर पाने की बेचैनी कुल रोम-रोम से उभरने लगती है। अन्तर के सारे अलगत्व के बंधन

कि यह दिल है, यह मन है, यह चित्त है, यह संसार है, मोह-माया है—समाप्त होकर ईश्वर में ही समाना शुरू हो जाते हैं। सम्पूर्ण हृदय में उसको समेट लेने के लिये हम ऐसे आकुल-व्याकुल से रहने लगते हैं कि मानो वह हमारे अत्यन्त समीप है लेकिन हम मिल नहीं पाते हैं। कितना चरितार्थ यह कथन है कि 'दिल में दिल का प्यारा है मगर मिलता नहीं, आँख में आँख का तारा है मगर मिलता नहीं।'

पहले जिस आर्द्रता को हम केवल अपने सीमित हृदय में पाते थे वही अंतर की गहनता में अर्थात् सूक्ष्म में प्रवेश पाने पर हमारे कण-कण में फैल जाती है। हमारी प्यास जो पहले केवल एक ग्लास पानी (अर्थात् थोड़ी देर के ध्यान) से आराम पाती थी वही प्यास अब बाँध तोड़ कर कभी तृप्ति नहीं पाती है। कभी स्वप्न में, कभी जागृति में, इस रूप में हमारे सामने आती है कि हम बाबू जी को लिखते हैं कि 'सोने पर, पूरी रात स्वप्न में इतने प्यासे रहते हैं कि पानी के घड़े खाली होते जाते हैं लेकिन प्यास नहीं बुझती। ऐसी प्राणलेवा प्यास होती है कि लगता है कि प्राण छूट ही जायेंगे।' उस स्वाति नक्षत्र की बूँद यानी प्रियतम की प्राप्ति के लिये हमारा कण-

४

कण पपीहे की तरह 'पी कहाँ ?' 'पी कहाँ ?' की पुकार करता सुनाई देता हैं। लेकिन इस हालत में आने पर इसके साथ ही लगा हुआ एक ऐसा अनुभव मिलने लगता है जो कि नवजीवन देता है। वह यह है कि मानो यह 'पी कहाँ ?' की पुकार 'उस' तक पहुँचने लगी है। वह इसे सुन रहा है। इस दशा की प्राप्ति पर हमारे सामने कबीर का यह कथन चरितार्थ हो जाता है कि 'ताके पीछें हरि फिरें, कहत कबीर-कबीर।' बस इसी के सहारे प्राणलेवा प्यास के होते हुए भी हम जीवित रहते हैं क्योंकि अंतिम-लक्ष्य-प्राप्ति की पूर्णता के लिये हमें जीवित रहना ही होता है।

यह अनुभव कि उस तक हमारी पुकार पहुँच रही है यह हमारे लिए वरदान स्वरूप हो जाती है। एक तरफ तो प्रियतम का ध्यान, दूसरी तरफ उसकी ओर से आती हुई कृपा और वात्सल्य की पावनधारा के अनुभव का अनोखा समन्वय, हमारे हृदय में उतरता है, बिखरता है, और फैलता है। अब दशा और कृपा दोनों साथ-साथ चलने लगते हैं। इससे यह पता मिलने लगा कि प्रियतम के पावन देश 'सालोक्य' में पहुँचने पर उन्हें हमारी खबर हो गई है। क्या कहना है इस परमानन्द की दशा का!

गहरी होती इस दशा के समन्वय की धारा में अकसर हमें यह भी अनुभव होता है कि वह स्वयं हमें मिल गया है। लेकिन मिलन और मिलन की तृष्णा रूपी धूप-छाँव में पलते, दीवाने से हम उसकी ओर बढ़ते ही चले जाते हैं। इस दीवानगी में, अकसर हमारा लक्ष्य भी हमें भूल जाता है। या यो कहें कि प्रियतम के लोक की प्राप्ति के एक सूत्र में खुद का खोना और दूसरे सूत्र में प्रियतम से ऐक्य स्थापित होते जाना ही समाहित रहता है। ऐक्य की इस मधुर-वेला में हमारी ऐसी अंतर दशा हो जाती है मानो हम अपनी ही वंदना करते हैं, अपना ही ध्यान करते हैं। अर्थात् 'अपने सिज़दे के सिवा गैर का सिज़दा है हराम'। दूसरे शब्दो में, उनके सारूप्य का निखार हममें उभरने लगता है। सद्गुरु का पावन स्वरूप हम अपने में अनुभव करने लगते हैं, और, बंदे का तुच्छ स्वरूप वे स्वयं में स्वीकार कर लेते हैं। जब मैंने श्री बाबूजी को लिखा था कि शीशे के सामने जाने पर वे ही खड़े दिखाई देते हैं तो उन्होंने लिखा था कि 'मैंने दाढ़ी नहीं बनवाई क्योंकि चेहरा तुम्हारा है।' एक विशेषता अब मैंने यह पाई कि इस दशा में आकर ईश्वर या सद्गुरु एक

ही रूप नजर आते हैं। चाहे सद्‌गुरु 'बाबूजी' कहूँ, या ईश्वर कहूँ, एक ही रहते हैं।

बहुधा मैंने देखा है कि आध्यात्मिक उन्नति की राह में चलते हुए भी लोगों की उन्नति नहीं हो पाती है। इसका कारण मैंने यही पाया है कि साधारणतया जो भी काम हम संसार में करते हैं उसमें हमें फल की आशा और जिज्ञासा रहती है। लेकिन जीवन के मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति हेतु जब हम साधना अपनाते हैं तो उसे बैरागी की तरह अपनाते हैं। उसमें किसी फल की प्रतीक्षा एवं जिज्ञासा नहीं रखते हैं। सहज-मार्ग साधना के अन्तर्गत ध्यान में डूबी साधना में जब हम प्रवेश पा जाते हैं तब हमारे अन्दर लक्ष्य प्राप्ति की जिज्ञासा बढ़ती जाती है। जिज्ञासा के परिणाम-स्वरूप लक्ष्य मे गहन राग पैदा होता जाता है। श्रीबाबूजी की प्राणाहुति-शक्ति हमारी आत्मिक उन्नति में चार चाँद लगा देती है। हमारे अन्दर पहले तो 'उसके' मिलन की प्रतीक्षा रहती है फिर वह प्रतीक्षा आतुरता में बदल जाती है। वही आतुरता, जैसा मैंने ऊपर लिखा है, उस प्राणलेवा प्यास को तन-मन में उभार कर हमें ऐसा बेचैन बना देती है कि ध्यान के

साथ 'उसे' अपनी कृपाधारा सहित हमारे कुल सिस्टम में प्रवेश पाना ही पड़ता है। ऐसा है ध्यान का चमत्कार!

ध्यान की महिमा

ध्यान की महिमा निस्सन्देह अनन्त है। ध्यान में लय रहने से अपना प्रलय तथा ध्येय का निखार हमारे कुल में उभरता चला आता है। सर्वविदित है कि प्रत्येक साधन त्रिगुण के अन्तर्गत है। पूजा-पाठ सभी साधन त्रिगुणयुक्त हैं। पर ईश्वर के ध्यान में लयलीन रहना, तीनों गुणों से परे, त्रिगुणातीत साधना है। इसीलिये यह ईश्वर में सन्निहित और ईश्वर के सन्निकट है। यही कारण है कि केवल ध्यान ही वह धारा है, वह पूर्ण साधन है, जो हमें योग दे सकने में पूर्ण समर्थ है। यह मेरा प्रत्यक्ष का अनुभव है कि जब से हम ध्यान में कुछ तन्मयता पाने लगते हैं तभी से हृदय में हम एक धारा का प्रवाह पाने लगते हैं। यही पावन ईश्वरीय धारा का प्रवाह है। इसे कई तरह से हम व्यक्त करते हैं। मैंने एक बार श्री बाबू-जी को लिखा था कि 'मुझे लगता है कि फैज़ का प्रवाह मुझमें हर समय जारी है।' यह इस बात का द्योतक है कि ध्यान द्वारा हमारा योग लक्ष्य में होना आरम्भ हो गया है। 'उसकी' पावन धारा हमारे

अन्तर में प्रवाहित होने लगी है। सद्गुरु से प्राप्त यौगिक प्राणशक्ति के सहारे ध्यान तुरन्त फलदाई होता है। 'इस हाथ कर, उस हाथ ले' वाली कहावत पूर्णरूपेण चरितार्थ हो जाती है। कहते हैं, पूर्ण से पूर्ण (ईश्वर) की प्राप्ति होती है। इसलिये केवल 'उसका' ध्यान ही, लक्ष्य में योग दिलाने वाली स्वयं पूर्ण साधना है। जिस साधन द्वारा साध्य के प्राप्ति की तड़प में पलने के बजाय हमारा लगाव साधन से ही हो जाता है तो उसी (साधन) में उलझें रहने से केवल इतना ही ज्ञान बढ़ता जाता है कि हमने इतने पाठ किये, इतनी रामायण नवान्ह किये, इत्यादि। अर्थात् हम 'हम' के घेरे में और भी बन्द होते चले जाते हैं। पर वास्तविक साधना वह है जो 'हम' के दायरे को तोड़ परम प्रिय ईश्वर को ध्यान में समाहित कर, हमें निरन्तर अनंत की ओर अग्रसर करती रहे। कहा जाता है कि पूजा, पाठ, जाप, इत्यादि साधनों द्वारा भक्ति मिलती है, ज्ञान मिलता है, प्रेम मिलता है। लेकिन, ध्यान ऐसी सम्पूर्ण साधना है जिसमें भक्ति, प्रेम, ज्ञान, लय, सभी कुछ सन्निहित है। ईश्वर (अर्थात् लक्ष्य) के ध्यान में लय रहने से हमारे अन्तर में ये सभी बातें स्वत: ही निखर

आती हैं। हमें पूजा-पाठ का सहारा नहीं लेना पड़ता है। हमारे अन्तर में प्रेम हिलोरें मारने लगता है। हम उस अथाह प्रेम सागर में गोते लगाते हैं, आनन्द पाते हैं।

पर साथ ही साथ ध्यान 'लक्ष्य' में डूबा रहने से जब हम आगे बढ़ते जाते हैं तो फिर सूखे के सूखे ही मालूम पड़ने लगते हैं। अर्थात् संसार में तो हमारी रहनी कमल-पत्र की भाँति जल में रहकर भी उससे अलग ही रहती है, आध्यात्मिकता में भी अर्जन की गई गतियों का पूर्णानन्द प्राप्त कर हम आगे बढ़ कर पुन: स्वयं को सूखे का सूखा अनुभव करते हैं। सूखापन आते ही तड़प दुगनी बढ़ जाती है। ध्यान ही ऐसी शक्तिमय प्रिय साधना है जो अनन्त सांसारिक एवं वाह्य पूजा पाठ की साधों को भी खाकर केवल 'लक्ष्य' को सामने फैला देती है। ईश्वर-प्राप्ति का ध्यान रहने में ध्यान धीरे-धीरे स्वत: ही सूक्ष्म होता चला जाता है। प्रिय की सामीप्यता के योग से प्रारम्भ होकर ध्यान स्वत: वैसी ही सूक्ष्मता प्राप्त कर लेता है। तड़प खुद अपना मार्ग टटोल लेती है। ध्यान में रत रहते-रहते ध्यान की स्थूलता (अर्थात् करना) समाप्त होने लगती है और वास्तविकता

(Reality) स्वत: उभरने व फैलने लगती है । रह जाता है सदगुरू की निरन्तर निगरानी में विकास पाने वाला हमारा लक्ष्य ।

सहज मार्ग साधना में श्री बाबूजी की पावन प्राणशक्ति द्वारा आत्मसाक्षात्कार होकर एक दिन वह दिव्य हमारे अंतर-बाहर में सच ही प्रत्यक्ष हो जाता है। कबीर का यह कथन हमारे समक्ष होता है कि 'दर दिवार दर्पण भये जित देखूँ तित तोय, कांकर-पाथर ठीकरी, भये आरसी मोय ।' सहज-मार्ग-साधना में ध्यान की सत्यता एवं सफलता का यह रहस्य भी प्रत्यक्ष हो जाता है । अत: ध्यान ही केवल मात्र सत्य साधना है । इसमें किसी साधन का अवलम्बन नहीं । अवलम्बन से हीन, यह स्वयं श्रेष्ठ, एवं लक्ष्य से योग पाया हुआ अभौतिक साधना है । क्यों ? क्योंकि ईश्वर भौतिकता एवं गुणों से रहित है । इसलिये उसका ध्यान भी भौतिकता (matter) से रहित ही होता है। ध्यान में हमें भौतिक साधनों का सहारा नही लेना पड़ता । इसलिये जिस समय से हम साध्य के ध्यान में तन्मय हुए पूजा शुरू करते हैं उसी समय से हम मैटर (matter) से ऊपर उठे रहते हैं। हमें चाहिये कि जिस दिन से हम ध्यान शुरू करें तो ध्यान में ही डूबे रहें और

ध्यान में उतरी उनकी कृपा में लयलीन रहने की रहनी बनायें। तभी हम शुरू दिन से ही मैटर से ऊपर उठ, दिव्यता में रहना प्रारम्भ कर सकते हैं।

ध्यान की कुछ ऐसी विशेषता है कि जिस दिन से हम शुरू करते हैं वह स्वयं ही रहना चाहता है। दिव्यता के उत्पन्न होने से हममें समाई बाधक चीजों को एवं अपवित्रताओं को वह बाहर फेंकना शुरू कर देता है। लक्ष्य-प्राप्ति अथवा ईश्वर-प्राप्ति से पूर्ण योग प्रदान कर सकने वाला यही सूत्र है। इसलिये 'उसकी' शक्ति से युक्त है। ध्यान, मन, एवं समस्त वृत्तियों को, उच्च (ऊंध्व) ही रखना चाहता है। इसलिये छोटी बातें अंतर में आने से रोकने में हमारा सहायक होता है। ध्यान द्वारा अंतर में विशुद्धता व्याप्त होती जाती है। जब विशुद्धता अधिक बढ़ जाती है, और सशक्त हो जाती है, तो जो चीजें हममें नहीं रहना चाहिए उनको स्वतः ही बाहर फेंकने में वह सहायक हो जाती है। इससे हम अनुभव करते हैं कि हमारा अंतर बराबर पवित्र एवं प्रकाशमय होता जाता है और हमारा निर्माण (making) स्वतः ही ईश्वर प्राप्ति के योग्य होना आरम्भ हो जाता है। यह है ध्यान में लय रहने के अभ्यास का प्रतिफल।

कहते हैं कि दो विभिन्न हालत, दो विभिन्न विचार, एक मन में नहीं पल सकते हैं। ध्यान सूक्ष्म है क्योंकि क्रियाओं से मुक्त है। अतः सूक्ष्म के आगे स्थूल-विचार शोभा भी नहीं पाते हैं। इसलिये ध्यान द्वारा हमने मन को जो उच्चासन दिया है, छोटे विचारों द्वारा उसे नीचे अथवा अधोमुखी नहीं होने देना चाहिये। ध्यान द्वारा हमारी रहनी भी स्वतः ही सूक्ष्म होने लगती है। विचारों के खेल का क्षेत्र हृदय ही है। इसलिये जब क्षेत्र में ईश्वर-प्राप्ति के ध्यान को अभ्यास की दृढ़ता मिली और दिव्य-लक्ष्य का बीज बोया तो विचारों द्वारा वैसा ही स्वाद, वैसा ही नीर, देने का प्रयत्न हमारा होना चाहिये। तभी हमारे हृदय में सतत् ध्यान के द्वारा साध्य रूपी चाँद उगने लगता है और साधना में पर लग जाते हैं। हमारी प्रगति भी बाँध तोड़ना शुरू कर देती है। ध्यान की गरिमा ही है कि वह स्वयं लक्ष्यमें ही डूबा, पूर्ण रहे। ध्यान का सौंदर्य भी तभी निखार पाता है जब हमारे मन के क्षेत्र में उसी (लक्ष्य) से मिलते-जुलते पावन विचारों का समन्वय होता चले। तभी मैटर से रहित, भौतिकता से परे, रात-दिन, अंधेरा-उजाला, सबकी सुधि खोये से हम लक्ष्य की ओर दौड़ते

चलने लगते हैं। अंतर में हम इतनी दिव्य शक्ति अनुभव करते हैं कि लगता है कि पहाड़ भी रास्ते में आये तो भी वह हमारा मार्ग-बाधक नहीं बन सकता है। इसकी एक गहन अवस्था में सूर्य, चन्द्र, सभी हमारे समक्ष निस्तेज मालूम पड़ते हैं। ऐसी दशा का अनुभव श्री बाबूजी को लिखने पर उन्होंने लिखा था कि यह 'हिरण्य-गर्भ' के स्थान की हालत है। हमारा अन्तर अतीव दिव्यता से जगमगा उठता है। ध्यान में लय रहने का अर्थ है ईश्वर की अति-सान्निध्यता में रहना। इसलिये ध्यान शुरू करते ही हम मुक्ति (liberation) की ओर कदम उठाते हैं, क्योंकि यह समस्त बंधनों से मुक्त साधना है, एक मुक्त तरीका है। मुक्त-तरीके को अपनाने से मुक्ति की ओर ही कदम बढ़ेगा। जो हालत ध्यान में हमारे हृदय में निखरती है वह मैटर एवं बंधनों से परे हमें दिव्यता का आभास देती है। बाह्य पूजा-पाठ वाली क्रियाओं के लगाव से हम में बंधन ही पनपता है। पर ध्यान से ईश्वर-प्राप्ति की सच्ची तड़प ही हृदय में पनपती है। कितना अन्तर है दोनों दशाओं में। एक बंधन डालने वाली है (क्रिया) तो दूसरी बंधन काटने वाली (ध्यान)। अर्थात्, लक्ष्य की सानुरूप-साधना,

ध्यान, को अपनाने पर हममें पूजा-पाठ (क्रिया) का लगाव ही समाप्त हो जाता है। परम आवश्यकता है हमें समर्थ शिक्षक एवं सद्‌गुरु की, जो अपनी यौगिक-प्राण-शक्ति द्वारा हमारे ध्यान को वास्तविक रूप में निखार सके। ऐसा होता है जबकि हमारा लक्ष्य सही होता है। 'माँ' (सद्‌गुरु) का द्वार बालक के लिए सदैव खुला ही रहता है !

ध्यान स्वयं में पूर्ण साधना है। आरम्भ में क्षोभ तभी पैदा हुआ होगा जब इस बात का ध्यान आया कि दुनिया बने। अर्थात् मूलारम्भ ध्यान से हुआ। जब हम ध्यान से अपने 'अंतिम सत्य' अथवा लक्ष्य प्राप्ति की यात्रा का आरम्भ करते हैं तो ऐसा पाते हैं कि ध्यान की वह ईश्वरीय धारा ही सृष्टि में मानो बीज रूप में रोपित है। अर्थात् सृष्टि का प्राण ध्यान ही है। आत्मिक उन्नति में पैरते चलने पर इस बात का प्रमाण भी हमें मिल ही जाता है। साधारणत: जो भी काम हम करते हैं उसका आरम्भ, हमारे अनजाने ही, ध्यान से ही, आरम्भ होता है। ध्यान से काम करने पर वह श्रेष्ठ, सुखदाई, एवं उत्तम फल देने वाला होता है। बच्चे से हम यही कहते हैं कि ध्यान से पढ़ो। यहां तक कि चोर भी

जब चोरी करता है तो उसके विचार में ध्यान ही होता है कि वह कैसे निकलेगा ? कहाँ से निकलेगा ? इत्यादि। ऐस लगता है कि कुल की शुरुआत ध्यान से ही हुई है, और, अन्त भी ध्यान ही है। मरणासन्न व्यक्ति से कहते हैं कि अब भगवान् में ध्यान लगाओ। क्यों ? क्योंकि 'वतन' की वापसी का द्वार वही है। इसलिये हमारे अनजाने में भी सत्य हमारे मुख से निकलता ही है। या यों कहें कि ध्यान ही मूल है।

ध्यान का दूसरा सूत्र या आधार स्मरण है, और मध्य का पसारा, सृष्टि या रचना है। यही कारण है कि जब हम साक्षात्कार के लिये ध्यान का सहारा लेना शुरू करते हैं और सद्गुरु की यौगिक प्राणशक्ति द्वारा ऊपर चढ़ाई शुरू करते हैं तो स्मरण का सूक्ष्म सूत्र जो एक सिरे को दूसरे सिरे से मिलाता है, अर्थात् हमारे ध्यान को उस ध्यान (origin) से योग दिलाता है स्वयं ही हाथ में आ जाता है। उससे योग देने के लिये तथा बहके हुए स्मरण को समेट कर लक्ष्य के ध्यान में प्रवेश देने के लिये सद्गुरु की प्राण-शक्ति अति आवश्यक है। इसीलिये ध्यान को ही साक्षात्कार का स्वाभाविक एवं सहज मार्ग कहा जा सकता है। ऐसे ही सहज एवं स्वाभाविक तरीके को संवार कर, सहजता का स्वरूप

देकर, श्री बाबूजी महाराज हमारे सामने लाये हैं। प्राणाहुति को भी हम वह शक्ति कह सकते हैं जो 'सृष्टि बने' ऐसा ध्यान आते ही प्रवाहित होना शुरु हो गयी। अर्थात् इससे (ध्यान से) 'परम-शक्ति-पुंज' में सजीवता अथवा चेतना आई, और, तब शक्ति का प्रवाह स्वयं प्रवाहित हो गया। श्री बाबूजी ने ध्यान को मूल विचार से शुद्ध करके हमें दिया। यही यौगिक प्राण-शक्ति है। प्राण-शक्ति प्राणियों में सोई उसी चेतना को जागृति देती है जिससे हम 'घर' लौट जाने तथा अपने सच्चे प्रियतम से मिलने के लिये बेचैन हो उठते हैं। प्राणशक्ति का जागरण इस बात का परिचय देता है कि उससे वियोग की व्यथा हम में किस सीमा तक सोई है। अर्थात् अब उलटवासी हो जाती है। उस महत् चेतना का प्रवाह तो नीचे की ओर सृष्टि बनने के कार्य के लिये प्रारम्भ हुआ था और प्राण-शक्ति से जागी यह अन्तश्चेतना हमें ऊर्ध्वमुख करके पुनः उसी मूल अथवा 'भूमा' (Ultimate) की ओर ले चलती है। ध्यान के प्रारम्भ को 'अंत' से योग देने में बीच में जो खराबी अथवा जड़ता पैदा हो गई थी उसे सद्गुरु श्री बाबूजी ने अपनी इच्छा शक्ति से निर्मल कर वास्तविकता को सहज ही हमारे हृदय में

उतारना प्रारम्भ कर दिया। फिर हमें क्या देर लग सकती है ? इस बात का प्रमाण भी मेरे पास है कि जब हम ध्यान से शुरू करते हैं तो हमें अकसर मालुम पड़ता है मानों अनजाने ही हमारा एक पैर ऊपर पहुंच चुका है, दूसरा चल रहा है। इसका अर्थ यही है कि ध्यान का निचला सूत्र हाथ में आते ही अन्तिम सूत्र अर्थात् वतन (Homeland) तक हमारी खबर पहुंचने लगती है।

वास्तविकता तो यह है कि श्री बाबूजी महाराज जो हमें सतत् स्मरण के लिये कहते हैं वह तो वास्तव में लक्ष्य का ध्यान रखने के लिए होता है। स्मरण के सूत्र से लक्ष्य को पकड़ लेने से हमारा 'हम' एक तरह से 'भूमा' से बंध जाता है। स्मरण, ध्यान की वास्तविकता के जिस 'श्रेष्ठ अक्स' को हमारे अंतर में उतारता चलता है वही विशुद्ध सामीप्यता हमारे सामने विभिन्न दशाओं के रूप में प्रत्यक्ष होती चलती है। कभी हम दीवाने से दौड़ते हैं, कभी खोये से। वाह्य-तत्वों के होश से बेलौस हुए हम 'बाबूजी', 'बाबूजी' की मौन अंतर-पुकार में समाते हुए चले जाते हैं। अब श्री बाबूजी का वह कथन मुझे बिल्कुल प्रत्यक्ष हो उठता है कि 'वजह और हालत साथ-साथ (side by side)

चलते हैं ।" जब हमारा ध्यान प्राणाहुति से नहाकर, निर्मल होकर, सूक्ष्मता को प्राप्त करता जाता है तो हमारी याद का स्वरूप भी सूक्ष्म होता जाता है । एक दिन हम देखते हैं कि न जाने क्यों हमें 'मालिक' का स्मरण ही नहीं आता । इसके बाद 'उसकी' याद की याद रखने में भी हम अपने को असमर्थ पाने लगते हैं । हमारा 'हम' 'प्रिय' की याद में इतना घुल-मिल जाता है कि वही सूक्ष्म एवं पावन-दशा ही हमारा स्वरूप बन जाती है । इसे हम तरह-तरह से व्यक्त करते हैं । कभी लिखते हैं कि मानो हमारा होश कहीं खो-खो जाता है । कभी लिखते हैं कि जब कोई 'मालिक' की बातें करता है तो लगता है कि अब होश में आ गये हैं । फिर जाने कहाँ चले जाते हैं ? अर्थात्, ध्यान में डूबे, असीमित-प्रिय ईश्वर के साथ ही, हम 'हम' के बंधन से निकल कर अब 'उसके' विराट में फैलना आरम्भ कर देते हैं । फिर स्वतः एक दिन ऐसा भी आता है कि कभी जब ठोकर या चोट लगती है तो लगता है कि जैसे एक सेकेण्ड के लिये हम कहीं से सिमट कर वापस आये हैं और फिर गुम हो जाते हैं । धीरे-धीरे, ऐसी हालत आती है कि हम होश में कभी आते ही नहीं हैं । अर्थात्

हमारा 'हम' का ईश्वर में लय होना शुरू हो जाता है। तब हम होश में आयें भी तो कैसे ? अब हमें लगता है कि ध्यान का भी हम पर कोई असर नहीं होता है। प्रेम तथा भक्ति के सारे रंग हम पर से उतर जाते हैं और लय-अवस्था भी 'लक्ष्य' में लय होने लगती है। श्री बाबू जी के कथनानुसार 'हालत और वजह एक होने लग जाते हैं'। तब उसी सतत धारा-प्रवाह के द्वारा 'वास्तविकता' का बेरंग हम में निखरने लगता है। फिर शेष क्या रह जाता है ? 'वास्तविकता' ! जब हम 'हम' से रहित हो जायें तो वास्तविकता को एक दिन हमारे कुल में निखरना ही होता है। वह नकाब हमारे श्री बाबूजी को उठानी ही पड़ती है जिससे हम केवल दर्शन ही नहीं करते हैं वरन् जिस ध्यान से शुरु किया था उस ध्यान की वास्तविकता अथवा 'मूल' में प्रवेश करने लगते हैं। इस वक्त एक हालत वह हमें अपनी तरफ से देते हैं हमें जिन्दा रखने के लिये। हमारी हमेशा की बेहोशी में भी एक होश कहीं पर डाल देते हैं जिससे हम उसकी बनाई हुई सृष्टि में रह सकें उसके कार्य हमारे द्वारा सुचारू रूप से सम्पन्न हो सकें, और कोई हमें बावरा न कह सके, कोई हमें खोया हुआ न समझ

सके। यहाँ पर वास्तविकता के उभार की दशा का अन्त हो जाता है। ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है।

ईश्वर का साक्षात्कार तो हमें हो गया। अब हमारे श्री बाबू जी इस वास्तविक्ता के पीछे विस्तृत व्यापकता में हमें ले चलते हैं। तब हमें ऐसा लगता है कि जैसे हम भौचक्के से खड़े रह जाते हैं, क्योंकि, न हमें अपना एहसास होता है और न उसका। फिर यह पसारा किसका है? अतः भौचक्के से, ठगे से, खड़े रह जाते हैं। यहाँ पर गति का एहसास नहीं होता है। मन, बुद्धि, चित्त, किसी का एहसास नहीं होता है। या यों कहें कि वे भी एक सीमा तक साथ चल कर 'मूल' में ही लय हो जाते हैं। अतः यहाँ से अब चलना नहीं बल्कि पैराव करना है। क्या खूबी है कि बिना पानी के पैर रहे हैं! मुझे लगता है कि यह 'मालिक' का वह अंतिम विराट् है जहाँ से फैलाव शुरू हुआ होगा। यहाँ हम यह कह सकते हैं कि ब्रह्म से परे की गति है। क्योंकि, मैने पाया है जहाँ तक हम ब्रह्म की गति कहते हैं वहाँ पर मनन करने और फैलने की शक्ति मौजूद मिलती है। बाबू जी का एक वाक्य जो मुझे याद आया वह इस बात

का प्रमाण भी है। बाबू जी महाराज ने मुझे लिखा था कि "ब्रह्म में फैलने और मनन करने दोनों की शक्ति मौजूद है।" अतः आज मैं यह कह सकती हूँ कि सद्गुरू का (जिसने भूमा को देखा है, उसकी शक्ति पर स्वामित्व प्राप्त की है।) दामन पकड़ने पर हमें भी उस असीम विराट का परमानन्दमय अचम्भा देखने का परम सौभाग्य प्राप्त हो सकता है।

फिर मैंने देखा कि इस दशा में लय हो जाने पर कुछ वहम की-सी हालत शुरू हो जाती है। लगता है सामने सब वहम-सा फैला है। ऐसा क्यों ? क्योंकि जब कुछ भी नजर नहीं आता है और न कुछ होते हुए भी कभी कुछ अन्दाज सा आता है तो एक वहम-सा लगने ही लगता है। वह किस तरह का वहम है ? कोई बता नहीं सकता। हम तो बस दृष्टा बने देखते रहते हैं कि वह वहम है। भोक्ता कोई नहीं है। 'कुछ है'–का तो भोक्ता हो सकता है लेकिन जहाँ कुछ नहीं है उसका भोक्ता कैसा ? एक बार मेरे दिमाग में आया कि अगर मैं वहम की बात कह रही हूँ तो उस सीमा तक भोक्ता मैं हुई। लेकिन, फिर मैंने महसूस किया कि यदि हम कुछ देखते जाते हैं, और लिखते जाते हैं, तो हमें केवल दृष्टा ही कहा

जा सकता है, भोक्ता नहीं। भोक्ता हम अपने को यों भी नहीं पाते हैं क्योंकि अन्दर-बाहर कहीं भी उसकी कोई छाप नहीं मिलती है। दूसरे, वहम में लय होकर, उसकी तह में जाने पर, मुझे यही मालूम पड़ा कि वह स्वयं खाली है। हाँ, इस 'खाली' की तह में घुसने पर पाती हूँ कि वहाँ वही आदि सम अवस्था है जहाँ से 'क्षोभ' शुरू हुआ होगा। बाबू जी के शब्दों में योगी की समाधि अवस्था की शुरुआत तो भूल (forgetfulness) की अवस्था से होती है। यह दशा भी आदि सम अर्थात् आदि-अवस्था पर जा कर समाप्त होती है। अर्थात् योगी की पूर्ण समाधि उसी अवस्था पर होती है कि जब वह आदि सम में प्रवेश पा जाता है। अब भी कुछ सामने है लेकिन उसको कहा नहीं जा सकता है। अर्थात् अपने मूल (origin), आदि (सम) की अवस्था से हमारा चिपकाव होने लगता है। वास्तविक समाधिअवस्था में हमारा कदम पड़ जाता है। यह अवस्था न कभी कम होती है, न प्रगाढ़ होती है, न दशा का अब आना होता है, न जाना। न देना, न पावना, रह जाता है। ऐसा सम आ जाता है जहाँ पर हर ताल, हर लय भी लय होने लगती है। ध्यान एवं विचार का सूत्र भी यहाँ हाथ में नहीं रह

जाता है कि जिसका सहारा लेकर कुछ सोचा जा सके। यह तो मालिक ने ही जब नकाब उठाई तो वहाँ जो समझ में आया उसे कह दिया। अब इसकी पृष्ठभूमि में क्या होगा ? वे जब फिर बतायेंगे तब फिर लिखने का प्रयत्न करूँगी।

पूजा है क्या ? खुद को समाप्त करना। जिसने पाया है, एक का होकर पाया है, दस का होकर गंवाया है। एक को पकड़ने से हम शून्य होते जायेंगे। अभ्यास हमारा यही होना चाहिये कि चाहे बातें करें, या काम करें, या ध्यान करें, हर समय, हर चीज़ में, निगाह एक 'लक्ष्य' को ही पकड़े रहे जिससे हम शून्य होते जायें। 'हम' के शून्य होते जाने में लक्ष्य की शक्ति ही सद्‌गुरू के द्वारा हममें प्रस्फुटित होकर शक्ति को शतगुना बढ़ा देती है। उसके पास पहुँचने की गति का तो फिर हमें होश ही नहीं रहता है। हम 'मंजिल' की ओर बढ़ रहे हैं, अथवा, मंजिल ही हमारी ओर दौड़ी आ रही है—इसका कुछ पता नहीं रहता है। हृदय और दृष्टि में एक को पकड़ने से अर्थात् मालिक को ध्यान में अपनाने से फैलाव व शक्ति सैकड़ों गुना बढ़ती जाती हैं। इसका पता हम बाबू जी को यह लिख कर देते हैं कि "जो हालत

हमें मरणोपरान्त ही मिल सकती थी उसका आनन्द हम जीवन में ही पा रहे हैं।" जैसे जैसे हम शून्य के नजदीक पहुँचते जाते हैं, या, हम में जैसे जैसे शून्यता समाती जाती है वैसे वैसे उन्नति की गति में दृढ़ता एवं आत्म-विश्वास का भी अस्तित्व लयप्राय हो जाता है। अर्थात् सीमा के बंधन टूटते जाते हैं। तब हम कह सकते हैं कि 'दादू शून्य समाधि में, जहां सांझ नहीं भोर' के पसारे में हम पैर रखते हैं अर्थात् ईश्वरीय गति में फैल जाते हैं। यदि हम मूल अर्थात् शून्य की ओर बढ़ते हैं तो 'हम' अर्थात एक का,अस्तित्व भी शून्य अर्थात अंतिम सत्य में ही मिलता जाता है और ध्यान की धारा द्वारा मूल उद्‌गम की शक्ति हममें प्रवाहित होती जाती है। तभी एक दिन आता है कि 'सिन्धु' में बिन्दु समाता जाता है। ऐसी दशा के आनन्द के अनुभव में हम मगन रहते हैं। फिर बिन्दु में सिन्धु समाता जाता है। अर्थात, एक सीमित अस्तित्व अथाह में प्रवेश पाती जाती है। तब हम एक ऐसी अनोखी दृढ़ता का समावेश अपने में पाने लगते हैं जिसका अन्त नहीं मिलता है। इसीलिये उस दृढ़ता को हमारे शरीर में रहनी नहीं मिल पाती है बल्कि 'मालिक' का काम सामने आने पर लगता है कि अप्रतिम-

विश्वास एवं शक्ति हममें कहीं से आकर जुड़ जाती हैं और काम की समाप्ति पर हम पुनः खाली के खाली हो जाते हैं ।

ध्यान की आवश्यकता

मैं लिख चुकी हूँ कि सृष्टि की रचना का प्रारम्भ ध्यान से ही हुआ। फलतः जहाँ तक यह रचना फैली, ध्यान उसमें प्राण बनकर समा गया। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जब हम ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चलते हैं तो ध्यान की साधना अकसर ही, हमें लक्ष्य से योग देने की कड़ी बन जाती है। समस्त ईश्वरीय शक्ति एवं चेतना में उसके ध्यान द्वारा ही हम प्रवेश पा सकते हैं। इसीलिये हर कार्य की सफलता के लिये, चाहे वह सांसारिक हो, या, ईश्वर-प्राप्ति का ही हो, ध्यान ही परम आवश्यक साधन एवं साधना है। जब केवल लक्ष्य के ध्यान में हम तन्मय से रहते हैं तो बहुधा उसी आदि-शक्ति का प्रवाह हमें हृदय में अनुभव होने लगता है जिसे हम हालत के रूप में तरह-तरह से व्यक्त करते हैं। कभी हम लिखते हैं कि 'जाने कहाँ हम कुल डूबे हुए हैं।' कभी हम लिखते हैं कि 'न जाने कहाँ हम कुछ खोये हुए से रहते हैं।' बात यह है कि हमारा ध्यान अब लक्ष्य से चिपट गया है। अब कभी ज़रा-सा भी ध्यान बँटते ही हम अपने

अस्तित्व से कितने अलग हो गये हैं की व्यथा हमें सताने लगती है । इसीलिये हम खुद ही भूले से, बिसरे से, दीवाने से, ध्यान में डूबे ही रहने का प्रयत्न करते हैं। एक अनोखा अनुभव और सामने आता है। वह यह कि जब सद्गुरू की शक्ति हमारे ध्यान को जागृति देकर लक्ष्य की ओर मोड़ दे देती है तो हम लिखते हैं कि 'हमारी वृत्तियाँ वाह्य से सिमट कर मानो ऊर्ध्वमुखी होकर अंतर्मुखी हो गई हैं।' तभी हम लिखते हैं कि 'संसार में जागृत रहने पर भी हम सुषुप्ति की सी अवस्था ही पाते हैं । सुषुप्ति में लक्ष्य के ध्यान की चेतना द्वारा जागृति की सी अवस्था में हम अनजाने ही, अपने को 'प्रिय' से मिलने की दिशा में गतिमान पाते हैं ।' हम सोते तो है लेकिन हमारा ध्यान अब मालिक ने जगाकर सत्य और सहज लक्ष्य की प्राप्ति की ओर लगा दिया है । वह चैन नहीं लेने देता है । हमें लगता है कि सोते में भी हम आगे बढ़ते जा रहे हैं । इधर जागृति में भी, हमें सुषुप्ति मालूम होती है । क्योंकि जागने में संसार के कार्य में योग देते हुए भी हमारे अंतर में मिलन का ध्यान बना ही रहता है और शरीर द्वारा हम सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहते से मालूम पड़ते हैं । हमारे अंतर में ध्यान गहन होता हुआ

सहज ही अपनी राह बनाता चला जाता है । जैसे एक अन्धा मनुष्य केवल लक्ष्य का ध्यान रखकर कि अमुक स्थान पर जाना है, एक लकड़ी का सहारा लिये पहुँच ही जाता है । ऐसे ही ध्यान को लक्ष्य पर टिकाये, सद्गुरु का हाथ पकड़े, संसार में रहकर, सोते-जागते, कहीं भी बेखटके हम गुजरते चले जाते हैं । तब संसार का बिखरा सौन्दर्य अन्धे मनुष्य की तरह हमारे भी मन पर नहीं छा पाता है । इसीलिये अकसर मालिक को यह लिखना पड़ता है कि 'लगता है आँखों की जगह पत्थर जड़े हुए हैं । इनसे बाहर संसार में हमें कुछ दिखाई नहीं पड़ता है । पर आँखें बन्द किए हुए भी हमें अन्तर में बहुत दूर तक बहुत कुछ दिखाई पड़ता है, और अनुभव होता है ।' लक्ष्य में हमारा ध्यान लग जाने से ही स्वत: ऐसा हो जाता है ।

आखिर हमारा ध्यान विचलित ही क्यों हुआ ? वह इसलिये कि ध्यान ही 'आदि' में था और ध्यान ही 'अन्त' में रहते हुए भी मध्यस्थ कर्ता कुछ गलत हो गया । अर्थात्, ध्यान की तो केवल-मात्र एक ही धारा थी जिसे पकड़े रहकर हम संसार में आये हुए भी आदि (ऊर्ध्व) से योग पाये रहते हैं । लेकिन,

हमारे ध्यान का मोड़ गलत हो गया। 'आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास' वाली कहावत हमसे चरितार्थ हो गई। ध्यान, जिसे मुख्य केन्द्र-विन्दु, जीवन के 'परम-लक्ष्य', पर स्थिर होना चाहिये था ईश्वर को अपने से ओझल कर संसार में कई धाराओं में विभक्त हो गया। अर्थात् एक ध्यान का आकर्षण कई धाराओं में वँट गया।-किसी धारा ने ममता को समेटा, किसी ने मोह को समेटा, किसी ने सांसारिक सुख-दुख को अपनाकर हृदय को मलिन तथा इच्छा-शक्ति को दुर्बल बना दिया। ध्यान का मुख्य विन्दु, लक्ष्य से और भी दूर हो गया। अब जो बीच की चीज़ (संसार) थी उसमें हम उलझ गये या बीच के रंग में रंग गये। तो जो हमारा असली रंग दैवी था, जो असल तत्व (ईश्वरत्व) था, हमारे ध्यान से उतर ही गया। ध्यान द्वारा जो हमारा सम्बन्ध शाश्वत्-आनन्द, शाश्वत-शान्ति, शाश्वत-समत्व से था, वह अब ममता, मोह, अज्ञान एवं भौतिक-सुख-दुखों के आवरणों से ढक गया। वास्तविक बात तो यह है कि अगर माध्यम सही रहा तो सन्तुलन रहता है। नीचे और ऊपर .दोनों की स्थितियों का सन्तुलित सम्बंध, हमारे 'हम' से ही रहता है। लेकिन, विभाजित ध्यान

के सूत्र द्वारा जब हमारा 'हम' अपने आदि से विलग हो जाता है तब माध्यम 'हम' का सन्तुलन एवं संबंध लक्ष्य से न होने से कम होते-होते प्राय: समाप्त सा हो जाता है। तभी संसार हमें सागर के समान दुस्तर दिखाई पड़ता है। उसकी समस्याएँ हिंसक जन्तु के समान हमें दुखदायी प्रतीत होती हैं।

माध्यम बिगड़ता कब है? एक साधारण उदाहरण कदाचित् यथेष्ट होगा : अंग्रेजी के दो शब्द हैं Sun और Sin। दोनों के आदि में 'S' और अंत में 'N' बराबर ही हैं। अर्थात् प्रारम्भ में 'हाँ' (S=yes) और अन्त में 'नहीं' (N=No) हैं। अर्थात् संसार 'हाँ' से शुरू हुआ और 'नहीं' से समाप्त हो गया। लेकिन ऐसा तभी मालूम पड़ता है जब माध्यम में सन्तुलन आ जाता है। पर हुआ क्या? उपरोक्त शब्दों में दो अक्षर आदि और अन्त के एक से हैं। लेकिन 'Sun' में मध्यस्थकर्ता 'U' अर्थात् तू (you) रहने से ध्यान विचलित नहीं होता, वरन् सन्तुलित और विशुद्ध रूप में रहता है। परन्तु दूसरे शब्द के अनुसार मध्यस्थ-कर्ता 'I' अर्थात् 'मैं' (I) हो जाने से आदि के केन्द्र को छोड़ कर मध्य में 'अहं' के रूप में एक अलग केन्द्र स्थापित हो जाता है जिसका योग 'अन्त' अर्थात्,

'भूमा' से अलग हो जाता है। अब जितना इस मध्यस्थ केन्द्र अहं ('हम') का प्रसारण होता जाता है, अनेकानेक केन्द्र स्थापित होते चले जाते हैं। मध्यस्थकर्ता अहं (हम) होने से आदि से योग उतना ही दूर होता चला जाता है। जिसे यों कह लीलिये कि हम अधोमुखी होते चले जाते हैं।

कैसी हंसी की बात है कि इस संसार में आदि (अर्थात् 'ईश्वर') ने अपनी रचना में कोई पार्ट अदा करने के लिये हमें भेजा और हम पार्ट अदा करते-करते स्वयं को ही कर्त्ता रूप में मान बैठे और अनेक पार्टियाँ बनाने लगे ! नतोजा यह हुआ कि ईर्ष्या, द्वेष, मोह, मत्सर, क्रोध, सभी पैदा हो गये। हम 'अहम् के अंधेरे में फैल गये। इस प्रकार अनेकानेक जन्म बीत जाते हैं, लेकिन 'घर' का ध्यान ही नहीं आता है। आता भी है ध्यान, तो इतना समय गुजर चुका होता है कि 'घर' का सही रास्ता भी नहीं मिल पाता है। जिनसे पूछते हैं वे स्वयं ही राह भटके हुए हैं। वे हमें बता भी कैसे सकते हैं? पर जब उसी ईश्वरीय-शक्ति को लिये कोई सद्गुरु या कोई महापुरुष अथवा विशिष्ट व्यक्तित्व जनसुधार के हेतु, पावन-आध्यात्मिकता के प्रसारण हेतु, पुनः पृथ्वी पर

आता है और अपनी पावन-प्राण-शक्ति द्वारा हमारे बहके हुए ध्यान को सतत् स्मरण की थपकी देकर चेतन करता है, तो हम पुनः 'घर' वापस जाने के लिए व्याकुल हो उठते हैं। अपने सच्चे लक्ष्य के ध्यान का सहारा लिये हुए, 'आदि' से प्रवाहित हुई उसी पवित्र धारा में हम पुनः प्रवेश पा जाते हैं। हमारे बनाये केन्द्र मिटने शुरू हो जाते हैं। उनमें फैला हुआ हमारा 'हम' सिमट कर ध्यान द्वारा पुनः एकत्व को प्राप्त होने लगता है। मध्यस्थकर्ता बजाय 'मैं' (I) के 'तू' (U = you) में बदलने लगता है। तब हमारी गति अधो से खिच कर ऊर्ध्व में फैलना शुरु हो जाती है। तब हम ऐसा अनुभव करने लगते हैं कि 'लक्ष्य' में ध्यान का ही सहारा लिये हुये हमारे मोह, ममता, ईर्ष्या, द्वेष अंतर से मिटने लगे हैं। उधर, सद्गुरु की शक्ति हमको बराबर आगे को ढकेलती रहती हैं, ऐसा अंतर में प्रतीत होता रहता हैं। बस ऐसा ही सांचा सद्गुरु होता है। वही विशिष्ट-व्यक्तित्व है जिसे ईश्वर प्राणीमात्र के उद्धार हेतु धरती पर उतारता है। हमारे बनाये केन्द्र जब अंतर से मिटते जाते हैं तो उतना ही फैलाव हमें अनुभव होता है। क्योंकि, हम जो तमाम में बिखर गये थे, अब सिमट कर 'असल' की ओर

बढ़ चले हैं। जितना ऊपर जाते जायेंगे, जितनी 'उनकी' नज़दीकी मिलती जायगी, उतनी ही सूक्ष्मता, पवित्रता और ईश्वरी शक्ति, का हमें अपने में संचार मिलने लगता हैं। हमारी आत्मिक उन्नति हो रही हैं अथवा नहीं इसका राज इसी से जाना जा सकता है कि हम स्थूलता से सूक्ष्म की ओर बढ़ रहे हैं। इतना ही नहीं, हमारे ध्यान में से स्थूलता का आवरण उतरता जाता है, ध्यान सूक्ष्म और गहन होने लगता हैं। बस इसी से आत्मिक-उन्नति का बहुत कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता हैं। जब ध्यान अपनी सीमा तक एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है तो आगे हम सूक्ष्म की भी अन्तर्दशाओं को पढ़ लेते हैं।

क्या कारण है कि प्राणी मात्र दुखिया है, दरिद्र है, चिन्तामय, एवं अशान्त है ? यह वास्तव में एक महत्व पूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न का उचित उत्तर हमें तभी मिल सकता है जब हम ध्यान से कारण की खोज करें। पर हम ध्यान ही कैसे दे सकते हैं जबकि वह विभिन्न आकर्षणों में बंटा हुआ है ? अतः आवश्यकता केवल इस बात की है कि हमें कोई ऐसा ध्यान मिल जाय जिसके पीछे कोई ऐसी दैविक-इच्छा-शक्ति हो जो हमारे बिखरे हुए ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट

कर ले। किन्तु वह हमारा ध्यान अपनी ओर कब और कैसे आकर्षित कर सकती है ? यह तभी संभव है जब ध्यान की तह में लक्ष्य ऐसा हो जो हमारे जी से लगा हो और हमें प्रिय लग सकता हो। हमें प्रिय भी तो वही लग सकता है जिसमें प्राणीमात्र के लिये अपनत्व का आकर्षण होता है। अपने अपनत्व के आकर्षण को तो हम विखेर चुके हैं, बाँट चुके हैं। हमारा ध्यान तो समस्त में व्याप्त ईश्वरीय धारा को पीठ देकर और सब में बिखर गया है। हम यह तक भी नहीं सोच पाते हैं कि जहाँ हमारा ध्यान बिखर रहा है वहाँ कोई तथ्य है भी या नहीं ? हम यह तक नहीं समझ सके कि जिस हद तक हम अपने ध्यान का फैलाव वाह्य में कर रहे हैं वहाँ से उसके परिणाम में हम कुछ पा भी रहे हैं या नहीं। हो सकता है कि इस प्रश्न का उत्तर हम देने के लिये अब तैयार न हो सकें, क्योंकि इसका उत्तर खोजने में हमें ध्यान का पुनः सहारा लेकर, उस (ईश्वर रूपी) धारा में ही प्रवेश करना पड़ेगा जो कि समस्त में व्याप्त है। लेकिन उस धारा में हमें डालेगा कौन जबकि हम अपने दु:ख दारिद्रय को ध्यान से देखते हुए भी उसी में चिपके हुए हैं ? यह तभी सम्भव हो सकता है

जब संसार में 'कोई' महत् शक्ति लेकर आये और हमारे ध्यान की रुचि को अपनी प्राणशक्ति से जगा कर हमें इस योग्य बना दे कि हम अपने ध्यान की धारा को समस्त में व्याप्त ईश्वरीय-धारा में प्रवाह दे सकें, जो हमारे अन्दर से आलस, निराशा तथा अकर्मण्यता के बादलों का निराकरण कर हमारे अन्दर ममतामयी जननी की भाँति ऐसी लोरी सुना सके जो हमारे समस्त में बिखरे ध्यान को समेट कर केवल 'अन्तिम लक्ष्य' की ओर मोड़ दे दे। ऐसा मोड़ जहाँ से हमारे ध्यान में ईश्वरीय महक की चेतना सतत्-रूप से आना शुरू हो सके।

लेकिन जैसा कि श्री बाबू जी ने अनेकों बार कहा है कि "सुई उठाने के लिये हम क्रेन को काम में लायेंगे तो केवल क्रेन का बोझा ढोने की क्रिया से हमारा ध्यान अपने ध्येय की ओर मुड़कर उससे योग पा सकने में समर्थ नहीं हो सकता।" ध्यान कोई क्रिया नहीं जिसका बोझ हमें ढोना पड़े। सर्वव्यापी सर्वेश्वर की प्रत्यक्षता प्राप्त करने के लिये किसी भी क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। उसके लिये तो सबसे सरल, सहज और सानुरूप उपाय है केवल ध्यान। ध्यान सहज है क्योंकि केवल ध्यान को ही

हम जितना भी चाहें स्मरण में, हृदय में, विचारों में, लक्ष्य के लिये रख सकते हैं। बार-बार मनन (स्मरण) द्वारा लक्ष्य से लगाव हो ज़ाता है। उससे सच ही एक दिन ध्यान की शक्ल पैदा हो जाती है। ध्यान की धारा में प्रवेश पा जाने से योग पूर्ण होता ही है, चाहे आज हो या कल। यह सत्य है कि बार-बार मनन द्वारा अपने अन्तिम लक्ष्य का ध्यान हम रख सकते हैं। ध्यान हमारे और उसके मध्य के योग की वह कड़ी है जो हमें पुनः उसमें योग दे कर फिर एक हो जायेगी। ध्यान का कोई अपना पृथक अस्तित्व नहीं होता। यह तो किसी अव्यक्त को व्यक्त करने के लिये, उस धारा में जिसका कि प्रवाह हमारे उद्गम से है या हमारे अन्तिम लक्ष्य से है ढाल देने का एक आधार मात्र है। ध्यान, उस सर्व-व्यापी ईश्वर-रूप-शक्ति में हमें पुनः संबंधित कर देने का एक योग मात्र है। यही 'उसकी' प्राप्ति कर पाने का एक प्राकृतिक उपाय है। 'उसमें' योग दे सकने वाला सूत्र है। श्री बाबू जी महाराज ने इसी सहज योग अथवा ध्यान का अवलम्बन 'सहज-कार्ग' को दिया है। तत्क्षण साधना का परिणाम देने वाला ध्यान ही 'सहज-मार्ग' की विशेष देन है मानव मात्र के लिये।

इतना ही नहीं, इस योग में शीघ्र ही सिद्धि प्रदान करने के लिये सहज मार्ग में श्री बाबू जी द्वारा प्राप्त यौगिक प्राणशक्ति समाहित है। उनका कथन है कि ईश्वर को पाने के लिये उसका ध्यान ही सर्वोच्च साधना हो सकती है। उसके पाने और उसके दर्शन की हालतें भी ध्यान द्वारा ही हमारे सामने प्रत्यक्ष होती हैं। जब उसके ध्यान में तन्मयता आने लगती है और सद्‌गुरु को प्राणाहुति-शक्ति द्वारा उसे जानने की प्रेरणा और उससे मिलने की तड़प हममें पैदा हो जाती है तभी ईश्वर की जो विशेषतायें बताई गई हैं सभी हमारे सामने प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगती हैं। इतना ही नहीं, बाबू जी की प्राणशक्ति व उनके ध्यान द्वारा हमारा अन्तर ऐसा विशुद्ध बनता जाता है कि समस्त ईश्वरीय गतियाँ हमारे में स्वतः ही उतरना प्रारम्भ कर देती हैं। सभी ने कहा है कि ईश्वर सर्वव्यापी है, 'राम' सर्वत्र रमा है। यह सत्य भी है। लेकिन यह उसी दिन प्रत्यक्ष होता है जिस दिन ध्यान द्वारा 'उसमें' प्रवेश पायी हमारी दृष्टि ईश्वरमय हो जाती है। तभी हमारा अन्तर मन पुकार उठता है : 'दर दिवार दर्पन भये जित देखूं तित तोय।

कांकर, पाथर, ठीकरी, भये आरसी मोय ॥'

दर्शन की एक विशेष स्थिति यह है कि वह घट-घटवासी है। वही स्थिति ध्यान द्वारा हमारे अन्तर में उतरती है। वह सर्वशक्तिमान है—ऐसा सबने माना है। लेकिन इसे देख कौन पाया है? केवल वही जो श्रद्धेय श्री बाबू जी की परम पावन प्राणाहुति द्वारा ध्यान में तन्मय हुए, योग के उस स्तर पर पहुँच पाता है जिसे ईश्वर का पूर्ण दर्शन कहना चाहिये। मुझे अच्छी तरह याद है कि ध्यान के इसी स्तर पर पहुँच कर मैंने उन्हें एक बार लिखा था कि 'ऐसा लगता है कि सूर्य, चन्द्र मेरे ही बनाये हुए हैं। संसार की सारी रचना मेरी शक्ति से ही चल रही है।' ध्यान द्वारा ईश्वर की विशेषता का यह दूसरा तथ्य अर्थात् दर्शन की दूसरी अवस्था हमारे सामने प्रत्यक्ष होने लगती है। सच तो यह है कि यह दर्शन ही नहीं वरन् 'वह' जैसा है हमारे सामने प्रत्यक्ष होता जाता है। क्योंकि ध्यान द्वारा जैसे-जैसे हम उसमें प्रवेश पाते जाते हैं उसके दर्शन की यह स्थितियाँ हमारे सामने प्रगट होकर हममें समाती चली जाती है। जब हम इस मन: स्थिति से और ऊँचे उठते हैं अर्थात् ध्यान द्वारा जब उसके और निकट से निकट होते हैं तो क्या देखते हैं कि

एक ही शक्ति सर्वव्यापक है। उसे ईश्वर कहते हैं। चाहे कोई चीज छुओ, चाहे स्वयं को ही छुओ, तो लगता है कि प्रियतम' को ही छुआ है। ऐसा क्यों लगता है? क्योंकि हमारा अन्तर उसमें ऐसा लय हो जाता है कि अब वह अन्तर में इतना भिद जाता है कि उसका प्रतिबिम्ब हमारे वाह्य पर आने ही लगता है। इतना ही नहीं, सर्वत्र ईश्वर ही व्याप्त लगता है। रूप कोई नहीं होता। देखिये तो सही केवल उसके ध्यान की तन्मयता एवं 'सद्गुरु' की पावन प्राणशक्ति के सहारे मात्र से वह सर्वब्यापी हमारे समक्ष प्रगट हो जाता है! इस हालत पर आने पर ध्यान जिसकी प्रत्यक्षता के लिये था उसी में समाने लगता है। अर्थात् ध्यान हमसे दूर होने लगता है। हम ध्यान रख सकें, इतना भी हमारे अन्दर हमारे अहं का बीज नहीं रहता है। बीज तो उसी दिन दग्ध होना शुरु हो जाता है जिस दिन से ध्यान में तन्मयता रहने लगती है। लक्ष्य से चिपकी निगाह, समस्त से सिमट कर, उसमें (लक्ष्य में) ही लय रहने का प्रयत्न करती है।

इस दशा का आरम्भ हमारे अंतर में कैसे होता है? पहले उसकी शोभा या छवि सद्गुरु द्वारा कुछ

हमें ऐसी भा जाती है, हमरे दिल दिमाग पर ऐसी छा जाती है, कि हमें लगने लगता है कि हम कुल उसी (ईश्वर) के अन्दर हैं। यह ध्यान शुरू करने की प्रथम स्थिति होती है। फिर तो जैसा मैंने लिखा है ध्यान द्वारा उसी छवि को हम पीते जाते हैं। हम जैसे-जैसे उसको पीते जाते हैं ध्यान की दूसरी स्थिति अर्थात् ईश्वर की अति सामीप्यता अथवा घटघटवासी होना, हमारे सामने प्रगट होता जाता है।

लोग कहते हैं कि जब हमें यह पता ही नहीं कि ईश्वर कैसा है तो हम उसका ध्यान कैसे करें? लेकिन मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि जब हम ध्यान द्वारा उसको देखना चाहते हैं तो वह स्वयं अपना दर्शन हमें दिखाता है कि वह कैसा है। ध्यान की यह विशेषता है कि हम ज्यों-ज्यों उसका दर्शन करते हैं त्यों-त्यों जिस स्तर पर दर्शन हम करते हैं, हम देखते हैं कि हम स्वयं उसी स्तर में मिल जाते हैं। 'जानत तुमहिं तुमहिं होय जाई' सत्य हो जाता है। ईश्वर की वह विशेषता हमें अपनी लगने लगती है कि मानों घट-घटवासी मैं हूँ। दर्शन की हालत में जैसे-जैसे हम विस्तार पाते जाते हैं या यों कहिये कि वह हमारे

सामने प्रत्यक्ष होता जाता है, या हमारे सामने अपने को खोलता जाता है, तो उसी स्तर में हमको स्वयं में समेटता जाता है। यह उसकी ही महत्ता है जिससे कि वही दशा, वही दर्शन की हालत, जो उसने हमें दिखाया बजाय 'उसके' हमें लगता है कि हमारी ही हालत है। यह सद्गुरु कृपा का एक बहुत बड़ा रहस्य है। वह हमें केवल ईश्वर का दर्शन ही नहीं कराता वरन् अपनी कृपा-शक्ति द्वारा हमें उसमें ऐसा मिलाता जाता है कि हम यह तक भूल जाते हैं कि अमुक विशेषता ईश्वर की है या हमारी है। ईश्वर की बहुत बड़ी कृपा का यह भेद खुल जाता है कि ईश्वर रूपी जननी हमें अपने अंक में समेट लेने के लिये बेचैन है। वह अपने अंक में समेट कर, हमें, हमारे अस्तित्व से छुड़ा कर, अपने अस्तित्व में मिला देता है। क्योंकि 'मां' ने जैसा अपने बच्चे को बनाया था वैसा ही देखना चाहती है।

अब ध्यान की वह प्रक्रिया तो पूर्ण हो गई कि जिसका ध्यान था उसी में समा गया। दर्शन, प्रत्यक्षता में व्याप्त हो गया। लेकिन अब उससे परे का पसारा कोई विरले ही देख पाते हैं। उसे दिखाने की क्षमता और उसमें प्रवेश देने की शक्ति तो केवल

समर्थ श्री बाबू जी में ही है। यह आज मैं डंके की चोट पर कह सकती हूँ। यहाँ पर उन्हें 'सद्गुरु' कहना भी बहुत छोटा लगता है, क्योंकि सद्गुरु का तो कार्य ईश्वर की प्रत्यक्षता देकर पूर्ण हो गया। अब तो यह सत्य हो जाता है कि उस ईश्वर के बन्दे को अपने से चिपटा कर ऊपर का, उससे परे का, अद्भुत नजारा केवल मात्र विशिष्ट व्यक्तित्व ही हमारे लिये, हमारे समक्ष खोल सकती है। वह नजारा जिसके लिये वेदों ने 'नेति-नेति' कहा है, जिसके लिये महत् जनों ने 'अनन्त' कहा है, जिसके लिये कबीर ने 'हद अनहद के बीच' कहा है। 'उन्हीं' की यह ऐसी शक्ति है जिसमें शक्ति का गुमान तक नही होता है। 'उनकी' शक्ति के द्वारा ही इस हालत में फैलाव हो सकता है। इसलिये शायद मेरी कलम ने एक दिन लिखा था कि "खुदा हो, या न हो, ये बाबू जी जाने, हमारे दिलों में समाये वो 'तुम' हो।" यात्रा तो हमारी उसी दिन समाप्त हो जाती है जिस दिन ईश्वर का साक्षात्कार, श्री बाबू जी हमें करा देते हैं। साक्षात्कार ही क्या, ईश्वर-रूपी जननी में हमें ऐसा मिला देते हैं कि ईश्वर की विशेषता हमारी विशेषता मालुम होने लगती है।

जब ईश्वरीय गति की यात्रा इस प्रकार समाप्त हो गयी तो उसके आगे हमें वही ले जा सकता है जिसने 'उससे' परे पहुँच कर भी बहुत कुछ पाया हो, जिसने ईश्वर-दर्शन की स्थिति के बाद भी बहुत कुछ देखा हो, जिसकी तारीफ में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि 'जो है सो है'। उसका कोई नाम नहीं दिया जा सकता है। वह तो श्री बाबू जी महाराज की ही देन हो सकती है जिसमें उन्होंने ईश्वरीय-मार्ग से भी परे जाने के लिये एक अति सूक्ष्म सहज अथवा स्वाभाविक सहज-मार्ग निकाला है। इस अनूठी विशिष्ट व्यक्तित्व की मिसाल के लिये न कोई हुआ है और न होगा। मैंने देखा है ऐसी नज़दीकी से कि ईश्वर-मिलन के बाद अगर नज़दीकी हो सकती है तो 'उन्हीं' से ही हो सकती है। या यों कह लीजिए कि 'उन्हीं' में लय हो कर 'उन्हीं' की दृष्टि से ही ईश्वर की व्यापकता को तो हम देखते ही जाते हैं। साथ ही साथ, दिव्य अंतिम सत्य के पसारे को प्रत्यक्षता दे कर उन्होंने हमारे लिये यह प्रमाणित कर दिया है कि ईश्वर का हम केवल दर्शन या साक्षात्कार ही नहीं पाते हैं बल्कि उसमें लय हो-कर ऐसे विस्मृत से रहते हैं मानों कुछ विशेषता ही

नहीं है। इस दशा से श्री बाबू जी का यह कथन कि 'ईश्वर को भी अगर यह पता हो कि वह ईश्वर है तो वह ईश्वर नहीं रहेगा', सत्य हो जाता है। तब यह कहना भी दुष्कर हो जाता है कि हम यहाँ की श्वांस से जीते हैं, हमारे शरीर में प्राण व्याप्त है या यह जड़ है? यह कैसे चलता है? यह केवल वही जान सकता है, जो हमें ऐसे विराट् एवं महत् पसारे में लय रखते हुए भी शरीर में रखता है। कभी स्वयं को भी ऐसा वहम सा होने लगता है (जब कि इस शरीर को छूते हुए भी इसका स्पर्श नहीं होता है) कि यह जीवित है या जड़ है। लेकिन जहाँ पर वे हमें लिये जाते हैं वहाँ के लिये ये बातें भी अब बहुत छोटी मालूम होती हैं। ऐसा लगता है कि सांसारिक बातों की, जिनकी रहनी में हमारी आवश्यकता है, उन सब से भी हमारा पीछा छूट जाता है। क्योंकि अक्सर मैंने श्री बाबूजी को लिखा है कि 'लाज, लिहाज, शर्म, मर्यादा जिन बातों की भी जरूरत होती है स्वतः मुझमें प्रवेश कर अपना काम करके चली जाती हैं।' कहाँ? ये कौन जाने? लगता है कि ईश्वर दर्शन तक तो किसी न किसी रूप में ये चीजें मुझमें रहीं। लेकिन, उससे सूक्ष्म में जब बाबू जी

ने पसारा देना शुरू किया तो कहीं जगह ही नहीं बची कि ये रह सकें। लगता है कि आत्मिक-उन्नति के क्षेत्र में ईश्वर-दर्शन अनन्त-यात्रा का इन्तिहायी ठहराव या पड़ाव था। लेकिन, अनन्त कहूँ या क्या कहूँ ? कुछ भी समझ में नहीं आता। कुछ भी कहने से वह परे ही मिलता है। कभी तो ऐसा लगा कि जिस दशा का उन्होंने दर्शन कराया उसकी मैं साक्षी थी, लेकिन, जब उन्होंने उसमें मिला दिया तो फिर कुछ दिन बाद यह भी कह पाना मुश्किल हो गया कि मैं साक्षी हूँ। साक्षी होने में भी जब तक जिस हालत की मैं साक्षी हूँ, उसके आनन्द के भोग की सूक्ष्मता किसी न किसी हालत में, कहीं न कहीं, मौजूद होगी, तभी तो मैं उसके बारे में संकेत दे सकी हूँ। लेकिन ऐसा नहीं होता, क्योंकि जब साक्षी ही अपने अन्तिम लक्ष्य में लय हो गया तो अब कौन बतायेगा कि अन्त में क्या है ? कैसा है ? लेकिन मैंने पाया है कि दशा अब खुद बोलती जाती है कि वह क्या है ? कैसी है ?

मुझे लगता है कि श्री बाबू जी ईश्वरीय-गतियों से परे दिव्य-पसारे का जो दर्शन मुझे दे रहे हैं, या, जो मेरे सामने प्रत्यक्ष कर रहे हैं, उस अनूठी अन्तिम

सत्य-दशा को, उस अलौकिक अचम्भे को, मैं यदि अभी नहीं भी कह सकी तो भी उन्हीं की कृपा से जो कुछ लिख पाना या संकेत दे पाना कभी आगे सम्भव हुआ तो जरूर कहूँगी। यहाँ तक हुआ कि पहले खुद ही देखती थी, और खुद ही लिखती थी। फिर लगा कि कलम, उन्होंने पकड़ ली, प्रत्यक्षता मुझे दे दी। फिर शब्द और भाषा भी वही देने लगे। उन्हीं की देन से उनकी प्रत्यक्षता, उन्हीं की दैविक भाषा में पढ़ कर, कलम द्वारा स्पष्ट कर सकने का साहस मुझे हो रहा है।

मार्ग तो समाप्त हो गया है। सहज सहज ही में प्रत्यक्ष बह रहा है। कौन जाने आगे क्या-क्या उतरेगा ? कौन जाने ये बाबू जी महाराज संसार के प्राणियों के लिने एक क्षुद्र बिटिया की लेखनी से क्या क्या लिखायेंगे ? लगता है कि 'ईश्वर' का भेद कोई खोल न दे इसलिये दर्शन की स्थिति में आने पर अपने बन्दे को उसी हालत में ऐसा फैला कर मिला देते हैं कि लय होते हुए भी वह व्यक्त नही कर पाता है। सद्‌गुरु श्री बाबू जी महाराज जब ईश्वरीय-परम्-गति से भी परे अभ्यासी को ले जाते हैं तो और ज्यादा होशियारी बरतते हैं। वह यह कि वह बेचारा

जो अब तक उनके भेद को उनकी दी हुई दशाओं द्वारा साक्षी बनकर बताता था उस साक्षी होने की दशा को उससे अलग कर देते हैं। परन्तु, मुझे लगता है कि समस्त दिव्य भेद प्रकट होने पर भी कहीं उस अनूठें भेद का कोई बिन्दु जरूर बच जायेगा जो मुझे यह कहने पर विवश करेगा कि कुछ राज़ अभी शेष है।

प्राणाहुति

पूज्य बाबूजी महाराज द्वारा प्रणीत सहज मार्ग में प्राणाहुति का विशेष महत्व है। वास्तव में साधना के लिये प्राणाहुति ही प्राण के समान है। प्राणाहुति का पूर्ण अर्थ है योग की पूर्ण-आहुति। अर्थात् ईश्वर से योग होने में स्वयं अहं की आहुति देना। ईश्वर योग के साथ साथ ईश्वरीय शक्ति का स्वयं में प्रवेश होता जाता है और फिर उस पर अधिकार भी होता जाता है। ज्यों-ज्यों हम में 'प्रियतम' का समावेश होता जाता है हमारे अन्दर जागी कुल चेतन-शक्ति खुद अपने ही आत्मिक विकास के लिये उन्मुख होती जाती है। हमारी गति भी ईश्वर से योग पाने की दिशा में अप्रतिभ होती जाती है। आगे चल कर जब परम-शक्ति से एक सीमा तक हमारा योग हो जाता है तो इसी पावन-शक्ति का प्रयोग हम मानव-मात्र के आत्मिक विकास के लिये कर पाने में समर्थ हो जाते हैं। अर्थात् जब हमारा योग लक्ष्य में पूर्ण हो जाता है और हम निश्चिन्त हो जाते हैं, तब मैंने देखा है कि ईश्वरी शक्ति खुद-ब-खुद चौबीस घण्टे स्वयं

प्रवाहित रहने लगती है। जब हम किसी से आत्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में लगाव से बात करते हैं तो वह पावन धारा स्वतः ही दूसरों में स्थानान्तरित होने लगती है। यही प्राणाहुति की पावन शक्ति है।

मैंने यह भी देखा है कि श्री बाबूजी महाराज स्वयं ही अभ्यासी को शक्ति से योग दे देते हैं। जिसे उस परम शक्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया है उसके लिये ऐसा करना अवश्य ही सम्भव हो जाता है। उनसे इस प्रकार की शक्ति प्राप्त किये हुये अभ्यासी को श्री रामचन्द्र मिशन में 'प्रिसेप्टर' के नाम से जाना जाता है। वह जब उन्नति करते-करते स्वयं ही सद्गुरु में पूर्णरूपेण विलीन होने लगता है तब वही सतत-पावन-धारा उसके द्वारा समस्त में बिखरती रहती है। यही वास्तविक प्राणाहुति की शक्ति है। यही वाकई हालत है जो हम में स्वतः 'प्रियतम' के योग द्वारा उत्पन्न हो जाती है। यह भी सच है कि योगी प्राणाहुति देता भी है और वह खुद-ब-खुद भी स्थानान्तरित होती जाती है। योग का अर्थ स्वयं का समाप्त हो जाना है। यह मेरी समझ में अब आया है, क्योंकि, जहाँ पर संयोग है वहाँ से वियोग का आभास भी होता ही है।

इसलिये इस हालत तक हमें योगी नहीं कहा जा सकता है । योग का अर्थ स्वयं-की-आहुति ठीक इसलिये लगता है कि योग का अर्थ, जो अनुभवगम्य है, यही है कि जीव का परमात्मा से योग अथवा एकत्व हो जाता है। जीव जब तक जीव रहेगा तब तक उसका ईश्वर से योग हो ही नहीं सकता। जब उसका ईश्वर में लय होना अथवा योग होना प्रारंभ हो जाता है तभी उसको योगी कहा जा सकता है। जब जीव ईश्वर में लय हो गया तो एक ही चीज़ रह गई, अर्थात् ईश्वर। जीव विलीन हो गया। इसलिये योग का वास्तविक अर्थ स्वयं का लय हो जाना ही है। वास्तविक प्राणाहुति की यौगिक-शक्ति (जो खुद-ब-खुद हममें उत्पन्न होती है) अंतर की ऐसी विशुद्ध स्थिति की प्राप्ति में हो सकती है जबकि हमारा ईश्वर से योग हो जाये। वैसे जिन्हें श्री बाबू जी प्रिसेप्टर बनाते हैं, जिनको दूसरों के आत्मिक-कल्याण के सहायतार्थ शक्ति प्रदान कर तैयार करते हैं, उनके लिए यह शब्द ठीक बैठता है कि वे प्राणाहुति दे सकते हैं। देना इसलिए है कि 'मालिक' की दी हुई शक्ति से सर्वप्रथम वे स्वतः अपना योग करते हैं फिर उसे दूसरों को भी

दे सकते हैं। इसलिये मन चाहा काम स्वतः ही शुरू हो जाता है। वास्तविक परिवर्तित स्थिति (Real transformation) अथवा योगी की स्थिति पाए हुए व्यक्ति से तो यह अपने आप ही प्रवाहित होती रहती है। सद्गुरु से पाई शक्ति के द्वारा सर्वप्रथम ऐसे व्यक्ति अभ्यासी बंधुओं के हृदय की कल्मषता दूर करते जाते हैं जिससे ईश्वरीय गति के प्रादुर्भाव (उत्पन्न होने) के लिये पृष्ठभूमि तैयार होती जाती है। तब उनके अंतर का ऐसा परिवर्तन अथवा निर्माण हो जाता है कि ईश्वर का पावन-प्रादुर्भाव एक दिन उनके अंतर में होता ही है और वे निहाल हो जाते हैं। अंतर की जिस स्थिति पर प्राणाहुति ऐसे व्यक्ति द्वारा खुद-ब-खुद प्रवाहित होती है वहाँ एक लाभ यह भी है कि यदि कोई कमी उनके कार्य में आ भी जाय तो उसकी शुद्धता स्वतः ही हो जाती है। साथ ही साथ अभ्यासी-हृदय की विशुद्धता भी बढ़ती ही चली जाती है।

वास्तविक प्राणाहुति का प्रवाह मुझे वहीं दिखाई पड़ता है जब अभ्यासी 'उस' महत् (ईश्वर) में लय-अवस्था पाने लगते हैं। फिर जो भी कार्य उनके द्वारा होते हैं उसमें 'उनकी' ही महत्-प्राणाहुति-शक्ति का

समावेश रहता है। ऐसी महत् प्राणाहुति-ईश्वरीय-शक्ति से दो लाभ हैं, एक तो मानव उद्धार अथवा आत्मिक विकास का कार्य सुचारु रूप से प्रारम्भ हो जाता है। दूसरे, बहुधा खुद-ब-खुद भी अभ्यासी के अनजाने में भी यह पावन-धारा कार्य करती रहती है। क्योंकि अन्तर को शुद्ध करती हुई वह उन्हें ईश्वर के सान्निध्य की ओर खींचती है। प्रिसेप्टर जब प्राणाहुति देते हैं तो उस समय वे केवल इच्छा-शक्ति में ऐसा विचार लेते हैं कि अभ्यासी के अन्तर की कल्मषता दूर हो रही है और उसका अन्तःकरण ईश्वर-प्राप्ति के योग्य बन रहा है। उनके विचार की यह आतमप्रेरणा (suggestion) अभ्यासी की स्थिति को स्वच्छ, सहज और ईश्वर-प्राप्ति के अनुरूप ढालना प्रारम्भ कर देती है। अर्थात, यह ईश्वरीय-प्राण-शक्ति अभ्यासी को ऐसा बना देने की तैयारी करती है कि वह एक दिन उस महत्-परमेश्वर में समा पाने के योग्य बन जाए और ऐसा होना ही होता है क्योंकि ईश्वरीय विषय में श्री बाबू जी की इच्छा-शक्ति पूर्ण हो कर ही रहती है। बाबू जी ने अकसर मुझे लिखा है कि 'दो हालतें, लगे में ही, साथ चलती हैं। एक तो वह दशा जिसमें हम रह रहे हैं, जैसे

साम्यता या आनन्द, कुछ भी कह लें। इसके लगे में ही दूसरी स्थिति जो हम अनुभव करते हैं वह है वजह जिसके कारण यह अंतर की हालत निखार पर आती जाती है। अर्थात्, अंतर में उतरी ईश्वरीय गति और उसकी वजह साथ चलती है।' अतः मैं यह भी कह सकती हूं कि यह वजह ही, प्राणाहुति द्वारा निखार पाती हुई, अभ्यासी में शक्ति का संचार करती रहती है जिससे अभ्यासी का योग उससे हो जाए जो उसका मूल आधार है। सानुरूप होते-होते एक दिन ऐसा आता है कि अंतर दशा जब वजह अर्थात् (आत्मा) में समाने लगती है तो फिर केवल कारण अथवा ईश्वर ही हमारे सामने रहने लगता है। परिणामस्वरूप, अभ्यासी से यौगिक महत्-प्राणाहुति अपने आप फैलना प्रारम्भ कर देती है। वह तब प्रिसेप्टर के सामने ध्यान में बैठने की (Sitting) अथवा प्राणाहुति की कोई आवश्यकता महसूस नहीं करता। ऐसा क्यों? प्रिसेप्टर द्वारा दी हुई प्राणाहुति अभ्यासी के अंतर को उस महत् ईश्वरीय-गति में ही मिलाने में सहायता देती थी जिससे कि अब वह बहुत कुछ एकत्व प्राप्त कर चुका होता है।

डॉ० वर्दाचारी का यह प्रश्न कि 'तुम केन्द्रीय

क्षेत्र में न होते हुए भी हम ऊँची पहुंच वालों की स्थिति कैसे पढ़ लेती हो?' इसी स्तर पर आकर हल हो जाता हैं। जब हमारी लय अवस्था 'महत्' में शुरू हो जाती है, हमारे प्राण महत्-प्राण में समाना शुरू हो जाते हैं, तब अपने से भी ऊँची स्थिति वाले को भी पूजा कराते समय हमारा वह फैलाव अनजाने भी हमें उसी स्थान पर ले जाएगा जहाँ से अभ्यासी को प्राणाहुति मिलना चाहिए। और उतनी ही सूक्ष्म प्राणाहुति हमारे द्वारा होना शुरू हो जाती है जैसी आवश्यकता सामने ध्यान में बैठे अभ्यासी की होती है। यही नहीं, उसी स्तर की पढ़ने की शक्ति भी हमारे द्वारा काम करने लगती है। यह सब समर्थ सद्गुरु में लय-अवस्था पा जाने का ही महत्व है, और कुछ भी नहीं। इस प्रकार हम उच्च स्थिति को भी पढ़ सकने में समर्थ हो पाते हैं। लेकिन उस समय हमको यह लगता है कि हमारी अनुभूति में डूबी दृष्टि उनकी उस उच्च आत्मिक-दशा को देख भर रही है, स्वतः उससे दूर है। जैसे ज़मीन पर खड़े रह कर भी हम दुरबीन से पहाड़ के दृश्य देख लेते हैं वैसे ही सद्गुरु (ईश्वर) में शुद्ध लय-अवस्था के फैलाव द्वारा, हमारी दृष्टि भी उन्नति के उस पर्वत की चोटी तक

पहुंच जाती है। उस 'अनन्त' की सीमा तक पहुंच कर कुछ पढ़ ही लेती है 'उनके' प्राणों की शक्ति में मिल कर।

प्राणाहुति-शक्ति की यह महत्ता उसमें कुछ व्यावहारिक स्थिति प्राप्त करने पर सहज ही समझ में आना आरंभ हो जाती है। यौगिक प्राणशक्ति को अपने अंतर में प्राप्त कर, कुछ अनुभव करने पर ही, हमें यह पता लग पाता है कि वास्तव में, दो अलग हुई साम्य चीज़ों के पुनः जुड़ जाने को ही योग कहते हैं। रचना का श्रोत या उद्गम तो अविचल है, स्थिर है। उसका संयोग अथवा वियोग नहीं होता है। जो (जीव) उससे अलग हुआ है उसका ही उससे योग होता है। योग होना आवश्यक भी है, क्योंकि, जब तक अपना साम्य-स्वरूप अस्तित्व से अलग रहेगा तब तक वह भ्रमता रहेगा, बेचैन रहेगा। संयोग और वियोग के बीच की स्थिति में 'उद्गम' से पावन-शक्ति-प्रवाहित मिलती है। जब हम उद्गम से दूर होना शुरू होते हैं और उस स्थिति से जहाँ से कि उससे शीघ्र योग होने की सम्भावना रहती है नीचे अधोमुखी गिरना शुरू हो जाते हैं तभी से पुनः योग के लिये हमें उसी शक्ति की जो कि उस उद्गम से

प्रवाहित है आवश्यकता बनी रहती है। जिस स्थिति से अधोमुख हो हम नीचे गिरकर उलझते ही चले गये थे, वहीं से पुनः ऊर्ध्वमुख कर पाने की वही शक्ति हमारी बहकी विचार धारा द्वारा हज़ारों फुहारों में होकर नीचे की ओर (संसार में) बहाना शुरू कर देती है। तभी हमारे शुद्ध मन की स्थिति चंचल हो जाती है। इसी से हमारा अंतस कमज़ोर पड़ जाता है, भय खाता रहता है। तितर-बितर फुहारों के साथ बहते हुए हम उस मुख्य शक्ति के प्रवाह से, जिसका योग हमारे 'उद्गम' या 'अन्त' से सम्बन्धित है, दूर होते हुए, न जाने कहाँ खोते चले जाते हैं। जैसे संतुलन खोए हवाई जहाज़ का बिखराव नीचे कहाँ तक फैलेगा यह कौन कह सकता है? समय बीतने के साथ हम अपने मुख्य 'उद्गम' तक को भूल जाते हैं जहाँ से कि हम आये हैं। लड़की जब विवाहित होकर ससुराल जाती है तो पहले उसे घर व घरवालों की बहुत याद आती है। उस याद में बेचैन रहती है। जल्दी घर लौट चलने की सोचती है। समय बीतने पर धीरे-धीरे एक दिन उसका लगाव ससुराल से मूल घर की भाँति हो जाता है। वह अपने वास्तविक घर को भूली रहती है। फिर कभी जब उसके

घर से कोई संदेश लेकर जाता है तो एक बार फिर लड़की को घर की याद पहले ही की भाँति ताज़ा हो जाती है। वही बेचैनी उसके अंतर में पुनः उभर आती है कि किसी प्रकार वह घर चली जाए। इसी प्रकार जब कभी कोई सद्गुरु उस 'महत्' अथवा आदि (घर) से योग किये इस प्रबल इच्छा से आता है कि सभी लोग आत्मिक कल्याण (अथवा अपने आदि घर) की मुख्य धारा में प्रवेश पा जायें तो उसकी इस श्रेष्ठ इच्छा में वही परम शक्ति जिससे 'उसका' योग, महत् अथवा आदि से होता है व्याप्त हो जाती है। तभी वह उस इच्छा-शक्ति द्वारा प्राणी मात्र को पुनः उसके उद्गम में योग देने के लिये समर्थ होता है। वह उस मुख्य योग की धारा से बहुत अलग और बहुत दूर हुए प्राणियों को अपनी इच्छा शक्ति का सहारा देकर उद्गम की ओर प्रेरित करता है। संसार रूपी जल में विभिन्न प्रकार के संस्कार रूपी गन्दगियों में सने हुए मानव-अन्तर को अपनी इच्छा-शक्ति से, उस योग-शक्ति के द्वारा जिसे प्राणाहुति शक्ति कहते हैं, शुद्ध करता है। इसी पावन-प्राण-शक्ति का सम्बल देते हुए एक दिन हमें वैसा बना ही लेता है कि हम अपनी आदि-धारा में फिर

से योग पा कर प्रवाहित हो सकें, फिर से अपने उद्-गम की ओर पैराव शुरू कर दें।

पर, मुख्य धारा में हमें पुनः प्रवाह देने के लिए सद्‌गुरु को कितनी सतर्कता, कितनी दृढ़ता और कितनी सूक्ष्म-शक्ति एवं दूर-दिव्य दृष्टि से काम लेना पड़ता है, उसे तो पूर्णतयः वे ही समझ सकते हैं। लेकिन कुछ वे भी समझ सकते हैं जिन्हें अथक परि-श्रम द्वारा उस साँचे में ढाल कर ले आये हैं जिससे कि वे पुनः अपनी वास्तविक शुद्ध स्थिति प्राप्त कर उनकी पावन-प्राण शक्ति द्वारा ईश्वर में योग पाकर स्वयं योग्य ही नहीं बल्कि योगी हो जाते हैं। तब वे भी 'मालिक' से पाई हुई उसी दिव्य प्राणाहुति की शक्ति द्वारा अपने आत्मिक कल्याण के साथ-साथ उनकी कृपा से दूसरों को भी ईश्वर में योग देने में समर्थ-सहायक हो जाते हैं। यों तो मालिक, मालिक है। वह अपनी इच्छा शक्ति द्वारा उस परम शक्ति से हृदय को थोड़ा सा ही योग देकर हम में से किसी को भी प्राण शक्ति द्वारा दूसरों के अंतःकरण की शुद्धि का काम सौंप सकते हैं, अर्थात् प्रिसेप्टर बना सकते हैं। लेकिन ऐसे अभ्यासियों को जिन्होंने स्वयं ही सुदृढ़ भक्ति द्वारा उस पावन-ईश्वरीय-धारा में योग

का प्रवाह पाकर सद्गुरु के स्नेहांचल द्वारा अपने मुख्य उद्गम का मुख देख लिया हो और उनकी उस पीर को पहचान लिया हो जिससे प्रेरित होकर अपने प्राणों की शक्ति-प्रवाह द्वारा 'वे' सबको उद्गम से जोड़ देने के लिये लालायित हैं जब प्रिसेप्टर बना देते हैं तो उनमें दृढ़ता और पूर्ण आत्म विश्वास आ जाता है। ऐसे को प्रिसेप्टर बनाने की तो बात ही निराली हो जाती है। वैसे तो किसी भी अभ्यासी को प्रिसेप्टर बना देने पर उसके द्वारा प्राणाहुति का कार्य तो होता ही रहता है, परन्तु उसमें वह दृढ़ता और वह आत्मविश्वास नहीं होता है। वह अभ्यासी के हृदयों को प्राणाहुति-शक्ति द्वारा शुद्ध तो करता है, और शुद्धि के द्वारा अगर अभ्यासी में स्वयं लक्ष्य प्राप्ति की लगन है और वह सद्गुरु से, लगाव द्वारा, चिपका हुआ रहता है, तब तो उसमें ईश्वर से योग पाने के लिये जिन बातों की जरूरत है, (जैसे प्रेम, भक्ति, दृढ़ता, लय अवस्था इत्यादि) स्वयं ही पैदा हो जाती है। लेकिन अगर लगाव न हुआ तो उस अभ्यासी के अन्दर ईश्वर से मिलने की तड़प, लगन, प्रेम, भक्ति, इत्यादि का सामान नहीं जुट पाता है। उनके अन्दर वे दिव्य बातें नहीं उतर पाती हैं जिनसे

हम श्री बाबू जी के पावन कथन को सिद्ध कर सकें कि सही माने में प्रिसेप्टर का अर्थ गुरु के अलावा कुछ हो ही नहीं सकता है।

पूज्य लाला जी साहब (श्री रामचन्द्र जी महाराज, फ़तेहगढ़) का यह कथन कि 'मनुष्य चाहे कितना भी आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर पहुँच जाये अगर उसमें सदाचार की कमज़ोरियाँ बाकी हैं तो वह उनकी निगाह में कभी जंच ही नही सकता है' सर्वथा सत्य है। सदाचार का वास्तविक अर्थ है कि हमारा अन्तर, उस विराट-अन्तर से योग पा कर दिव्य ही बनता चला जाए। अर्थात् वे सद्‌गुण जो हम दिव्य के लिये प्रयोग में लाते हैं बहुत सीमा तक हमारे में उतरते चले जाते हैं। हमें इसका अनुभव भी होता है। पर्वत पर यदि करील का पेड़ लगाया जाए तो वह करील ही कहलायेगा। वैसे ही यदि हमारा अन्तर अपने प्रियतम से योग पाकर अपने में वह निखार ही न पा सका तो फिर वह मिलन मिलन ही नहीं है। वह योग ही कैसा जो बे-नकाब न हो? ऐसी योग-शक्ति का सहारा पाये हुए भी, वैसा निखार अन्तर में न आया तो यही समझना चाहिये कि हम सच्चे अर्थ में 'प्रियतम' से नहीं मिल

पाये हैं । मिलन की दशा में तो 'जानत तुम्हहि, तुम्हहि होइ जाई' वाला कथन हममें पूर्णतया चरितार्थ हो जाता है। उनकी अथवा सद्गुरु की इच्छा और शक्ति से योग पाये हुये योग-शक्ति से स्वयं तो मिलन का पूर्ण लाभ हम पाते ही हैं, समस्त के आत्मिक-कल्याण में भी दृढ़ता, तत्परता और आत्म-विश्वास के साथ कार्य कर सकने में भी हम समर्थ रहते हैं । क्यों ? क्योंकि 'उनका' योग (प्रतिबिम्ब) हममें निखर उठता है। यों तो 'वतन की वापसी में हम लौट चले', कहना तो आसान है । लेकिन वह राह जो धुर तक एकसी चली गई है उस पर हमें वही खड़ा कर सकता है जिसने स्वयं लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् सहज सा मार्ग हमारे लिये खोज निकाला है । जब कोई मार्ग भी खोज लाया हो और इच्छा और शक्ति का समावेश भी उसमें पूर्ण-रूपेण मौजूद हो, तो वह समस्त को 'आदि' से योग देने की हर बारीकी को खूब समझता भी है। तभी महत् प्राण में समाये हुये उसके प्राण से यौगिक प्राण-शक्ति की धारा प्राणीमात्र के आत्म-कल्याण के लिये स्वतः ही प्रवाहित रहती है । ऐसा संसार में कभी कोई विरला ही आता है, या भेजा जाता है । वास्तविक प्राणाहुति यही है, और ऐसी

महान् विशिष्ट व्यक्तित्व द्वारा ही हमें प्राप्त हो सकती है।

किसी को अपनी वस्तु दे देना बहुत आसान है, क्योंकि केवल वस्तु विशेष से अलगाव मात्र हो जाता है। लेकिन किसी को आदि-शक्ति में योग दे पाना तभी सम्भव हो सकता है जब कि वह संसार में आत्मिक-कल्याण के कार्य के लिये ही आया हो। साथ ही साथ वह वहां तक स्वयं चल कर फिर 'उस' तक पहुँचने का सहज-मार्ग भी बना सका हो और शक्ति का वितरण भी कर सकता हो। उसे तब हम भूले-भटकों का, तमाम जगमग गलियों से सिमटाव कर, सहज-मार्ग में समावेश दे देना ही शेष रह जाता हैं। इसीलिये वस्तुतः यह 'सहज मार्ग' हुआ है। उसकी प्राणाहुति द्वारा लक्ष्य में योग पाने की शक्ति हममें उतर आती है क्योंकि वह ऐसा ही सामर्थ्य लिये हुए होता है। अभ्यासी के अंतर को निखार कर रख देने की दक्षता उसमें रहती है। ऐसे भोले-पन के साथ रहती है मानो भोलापन खुद ही उससे अनजान हो। अभ्यासी को उद्गम में योग देकर भी अपनी इच्छा-शक्ति से सदाचार को निखार लाने में पूर्ण सहारा देकर लक्ष्य तक पहुँचा देने में वह समर्थ

होता है। ऐसा मैंने स्वयं देखा है। समय के साथ अनेक प्रकार की राहों (साधनों) का निर्माण होता है। लेकिन राहें लक्ष्य से न जुड़ी होने के कारण गलियाँ बन कर रह जाती हैं। ये गलियाँ न भी बनी हों तो भी सांसारिक उलझनों से परे रख कर, आसानी से लोगों को इन अनेक भटकाओं से बचाकर, अपनी शक्ति के सहारे, 'सहज-मार्ग' में ला खड़ा करना आसान नहीं होता है।

श्री बाबू जी द्वारा ईश्वरीय-देश की ओर बढ़ पाने में 'सहज मार्ग' इसी लिये सहज प्रतीत होता है कि इसे किसी ने बनाया नहीं है। यह साक्षात्कार का सहज (स्वाभाविक) मार्ग है जो हमेशा से जारी है। एक ओर जहां संसार में भटक जाने की अनेक रंग बिरंगी गलियां रहती हैं वहीं, लगे ही, 'उस' तक पहुँचा पाने का सीधा-सहज-मार्ग भी हमें मिलता है। लेकिन उसका पता हमें तब मिल पाता है जब उसी पुनीत धारा में जो उद्गम से प्रवाहित है श्री बाबूजी की प्राणाहुति शक्ति द्वारा हम प्रवेश पा जाते हैं। तभी हम उन्हें लिखते हैं कि 'हम ईश्वर की ओर बिना रोक टोक के बहते चले जा रहे हैं।' कहने को तो प्रथम दिन से ही हम कहते हैं कि हमने सहज-

मार्ग साधना अपनाया है लेकिन वास्तविकता बाद में समझ में आती है जबकि सद्गुरु उसी धारा में हमें प्रवेश देकर ढाल देते हैं। फिर तो हमारी चाल लक्ष्य-प्राप्ति की ओर सीधी हो जाती है। तब जितना भी हम चलते हैं, हमें अपने 'वतन' की निकटता ही मिलती जाती है। जितनी निकटता हमें मिलती जाती है उसकी शक्ति भी हममें आती जाती है। उसका बहाव हमें सूक्ष्म और अनन्त की ओर ले जाने लगता है। जैसे-जैसे वतन नज़दीक आता जाता है वैसे ही जल्दी पहुँचने की चाह बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि चल-चलाव की खबर भी नहीं रहती है। खुद के चलने का एहसास भी नहीं होता है। लगता है कि कहीं खिचते चले जा रहे हैं। पीछे की ओर देख नहीं सकते हैं। क्योंकि सद्गुरु की इच्छा-शक्ति जो हमें आगे बढ़ने की और लक्ष्य से योग देने की रहती है, विराट बनी हमें आगे को ही ढकेलती चलती है। इतना ही नहीं, हमें अपने चलने का भी ज्ञान नहीं रहता है। 'उससे' योग पाने की चाह ऐसी विराट हो जाती है कि हमें पता भी नहीं लगता कि चाह हम में है भी या नहीं। हमारा योग हमसे बिछुड़ कर धीरे-धीरे समस्त में व्याप्त होने लगता है।

ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि कुल में उसकी ही शक्ति व्याप्त हैं। या यों कहें कि शक्ति के साथ ही बीज रूप में वह स्वयं ही व्याप्त हैं। इसलिए लक्ष्य की भाँति हमें भी, वैसा ही होकर, उसमें समाव मिलता जाता है। अर्थात् वह एक से अनेक हुआ तो अनेक में भी बीज रूप में केवल वही व्याप्त हुआ रहता है। ऐसी स्थिति प्रायः होने पर कबीर का कथन, 'एक राम कर सकल पसारा' हमारे समक्ष प्रत्यक्ष हो जाता है। सत्य भी है कि अनेकता से जब हम एकता की ओर जाना चाहते हैं तो पहले तो हमें यह लगता है कि हम समस्त से सिमट कर बीज (ईश्वर) में ही प्रवेश पा रहे हैं। फिर जितना ही हम बीज में प्रवेश पाते जाते हैं उतना ही अनेक में हम अपने को व्याप्त पाने लगते हैं। आगे चलकर यह पसारा भी आँखों से ओझल होने लगता है। तब हम केवल साक्षी रूप में इतना ही कह सकते हैं कि यह फैलाव हमने देखा है। राह के बटोही की तरह पसारे को प्रथम स्वयं में पाकर, फिर वैरागी से आगे की ओर चल पड़ते हैं। एक दिन हमें ऐसी हालत लगती है कि जो अब तक देखा था सब वहम था क्या ? तब वह मधुर वहम, मानो वहम की हालत को स्वतः ही

पी जाता है, और, पैराव में पगे जहाँ भी हमारी निगाह जाती है सामने अब अचम्भा सा फैला मालूम पड़ता है। अचम्भा इस बात का होता है कि सृष्टि की रचना बीज (ईश्वर) से हुई। फिर बीज से फैलाव। फैलाव से जब साधना अथवा ध्यान द्वारा हमारा फिर सिमटाव हुआ तो केवल अचम्भा ही अचम्भा रह गया। इस अचम्भे के कारण का भी कुछ पता नहीं लगता। इसलिये यह हमें प्रभावशाली नहीं प्रतीत होता है। अब, साधारणतय:, वतन का दरवाज़ा सामने खुला सा फैला लगता है। अर्थात् वतन की वापसी में द्वार अब हमें फैला या खुला हुआ प्रतीत होता है। इससे पूर्व वतन से दूर हुये इतना अधिक समय व्यतीत हो चुका होता है कि हमें सब कुछ भूल सा जाता है। अत: पुन: उसे समक्ष पाकर अचम्भा होना अनिवार्य ही है। वहाँ गति की गुंजाइश नहीं रहती है। पैराव कहें तो भी ठीक नहीं लगता है। कुछ कहें, वह भी ठीक नहीं लगता है। स्थिरता एवम् समत्व भी समाप्त हो जाता है।

इसी प्राणाहुति शक्ति का ऐसा यौगिक-चमत्कार हममें बिखरता है कि अंदर ईश्वर का पूर्ण विकास हो जाता है। अपने अनुभव के आधार पर मैं यह कह

सकती हूँ कि दिव्यता की यह सजीव शक्ति ही यौगिक प्राणाहुति के रूप में हममें भी विकसित होने लगती है। इसका प्रवाह अपने प्राणों में पाकर हम स्वयं में दिव्यता व्याप्त पाते हैं। साथ ही साथ, हमारी कुल वृत्तियां मन, बुद्धि, चित्त, इत्यादि, सभी, हमारे देखते ही देखते दिव्य होने लगते हैं। अब यह प्रमाणित हो जाता है कि 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' चिर सत्य है। हमारा अन्तर-बाहर, सभी, उसी की पवित्रता से भरपूर हो उठता है। हमारे प्रत्येक कर्म में, हर बात-चीत में, कुल जीवन-रहनी में उसकी ही झलक आने लगती है। अनुभव ने मुझे यही बताया कि यही वह ईश्वरीय-शक्ति है जिसके फलस्वरूप हमारा अन्तर-बाहर, सत्य एवम् दिव्य-आलोक से आलोकित हो उठता है। यही उनकी प्राणाहुति की पावन-शक्ति का महान् कार्य है कि इन्सान के अंदर सत्य ही भग-वान मुस्कुरा उठता है। सद्गुरु श्री बाबू जी का महान् कार्य हममें दिव्यता का सौंदर्य निखार ही लाता है। मेंने पाया कि ईश्वरीय-कार्य में उनकी इच्छा शक्ति अचूक होती है। ईश्वरीय मामले में उनके मन में विचार आते ही वैसा ही कार्य हम अभ्यासी अपने अंतर में पाने लगते हैं। मेरे लिये ऐसा अवसर बार-

बार आया है जब मैं इस बात का अनुभव कर सकी हूँ कि योगी का हर विचार, विचार न होकर शक्ति-मय, सजीव, होता है । इतना ही नहीं, अंतर की बातों का ऐसा आदान-प्रदान मैंने देखा है कि मैं चकित रह जाती थी । निरन्तर लय-अवस्था में लय रहने पर मैंने यह भी पाया कि वही बातें हममें भी निखार पाने लगती हैं । एक बार वे परम पूज्य भीतर लेटे थे । मैं बाहर बरामदे में बैठी थी । मन में आया कि सभी उनके पैर छूते हैं लेकिन चूंकि लड़कियों का पैर छूना उन्हें रुचिकर नहीं है इसलिये मैंने कभी छुआ नहीं । पर सहसा अंतर की विनीत अवस्था ने पैर छूने के विचार को लाचार कर दिया । मैंने बरामदे में बैठे, मन से ही, कमरे में लेटे उनके पैर छुए । दो मिनट के बाद उन्होंने आवाज़ दी, 'बिटिया ! यहाँ आओ' । मैं गई तो बोले, 'बिना पैर छुए भी तो मैं तुम्हें ईश्व-रीय-चीज़ दे रहा हूँ ।' बस मैं मानो निहाल हो गई ! ऐसी बातें फिर मानों रोज़मर्रा की हो गई ।

वास्तव में, बाबू जी द्वारा प्राप्त प्राणाहुति प्रथम दिन से ही हमारे अन्तर में किसी दिव्य तथ्य की झलक देती है । फिर वह उस दिव्य तथ्य को हमारे कुल में निखार लाती है। उनकी प्राणाहुति कि शक्ति हमारे अंतर

में सोई दिव्य चेतन-शक्ति को सजग कर देती है। परिणाम स्वरूप अन्तर में उनकी निखारी ईश्वरीय गतियों के अनुभवों का परमानन्द हम उठाते हैं और लिखते जाते हैं। हमारे अन्तर का सम्बन्ध, धीरे-धीरे स्वतः ही, ईश्वर अथवा सद्गुरु से इस प्रकार होने लगता है कि हमारी इन्सानियत क्रमशः ईश्वरत्व में बदलना शुरू हो जाती है। ऐसा क्यों होता है? इसलिये कि ईश्वर के ध्यान में रहने से हम उतने समय के लिये स्वयं में से मानों निकल जाते हैं, अथवा खाली हो जाते हैं और हमारे खालीपन, या शून्य में वह समाता जाता है। एक दिन केवल ईश्वरत्व में ही व्याप्त हम यह भूल जाते हैं कि हम मानव हैं, या कभी थे। उनसे हमारा सम्बन्ध मानों बहुत पुराना है—ऐसा प्रतीत होने लगता है। वास्तव में सद्गुरु की पावन प्राण-शक्ति द्वारा अनजाने में ही, हम स्वयं से खाली, और, ईश्वर से भरपूर होते चले जाते हैं।

प्राणाहुति वास्तव में एक ऐसी सूक्ष्म ईश्वरीय शक्ति है कि श्री बाबू जी की प्रथम 'सिटिंग' से ही वह हमारे अन्तर से स्थूलत्व को पिघलाना तथा पावन सूक्ष्मता को भरना प्रारम्भ कर देती है। मैंने कई बार श्री बाबू जी महाराज को लिखा है कि 'ऐसा

लगता है मानों अन्तर ही पिघल-पिघल करके बाहर निकलता चला जा रहा है।' सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते-होते एक दिन हमारा योग ईश्वर से ऐसा हो जाता है कि फिर योग देने वाली इस प्राण-शक्ति का हमें आभास भी नहीं मिल पाता है। विलग हुये अपने वास्तविक स्वरूप में पुनः एक हो जाने पर इस शक्ति का आभास हमें मिले भी कैसे ? क्योंकि अब जैसी आवश्यकता होती है उसका सूक्ष्म-पसारा होता जाता है। तब यह चरितार्थ हो जाता है कि यह यौगिक शक्ति अथवा जोड़ने वाली शक्ति है। अर्थात् जीव को ईश्वर से योग देने वाली यह शक्ति भी मानों दिव्य में ही लय हुई हममें सदा के लिये समाने लगती है। यह किसी विरले योगी के प्राण से ही अथवा सद्गुरु के महत् प्राणों द्वारा ही अभ्यासी के प्राणों में प्रवाहित हो सकती है। इसलिए, यह उन पावन प्राणों की ही आहुति है। वास्तव में, प्राणाहुति का कार्य हमारे में केवल ईश्वर का साक्षात्कार देकर ही नहीं समाप्त हो जाता। हमारा योग आन्तरिक्ष में होते होते एक दिन हमारा पसारा ही ईश्वर में हो जाता है। हम 'हम' की सीमा से निकल कर असीम में विलीन होना शुरू हो जाते हैं। श्री बाबू जी द्वारा प्राप्त प्राणाहुति ही

ईश्वर अथवा लक्ष्य से मिलाने की एक कड़ी है। किन्तु यह मिलन नहीं है। यह तो उसकी महत्ता हुई। सद्गुरु द्वारा मिलती इस यौगिक-शक्ति का कार्य कितना व्यापक है यह बताना कठिन है। यह व्यक्त कर पाने के परे है। यह श्री बाबू जी द्वारा एक सीमा तक हमें 'हम' की सीमा से परे अनन्त की ओर ले जाने की तैयारी करना प्रारंभ कर देती है। यह त्रिगुणों से अछूते, माया से भी परे, आध्यात्मिकता के क्षेत्र की ओर मोड़ देना प्रारम्भ कर देती है। तभी मैं यह हालत लिखने को मजबूर हो गई कि उनसे मिलने की तैयारी में 'विदा देने को आये तीनों गुण रोये माया कि परे ये है चली।'

अब प्रश्न उठता है कि माया क्या है? विद्वानों ने, महात्माओं ने तरह-तरह से इसका निरूपण किया है। लेकिन मैं तो अपने अनुभव की दृष्टि और अनुभव की ही भाषा में केवल इतना ही कहूँगी कि आखें खोल कर देखने पर जो कुछ अच्छा लगता है, आकर्षित करता है और हमें वाह्य में समेटता है, वही माया है। माया की गति में ही स्थित त्रिगुणों का भी पसारा रहता है। प्रियतम के ध्यान में खोये, आंखें बन्द करने पर जो कुछ अन्तर में हमें अच्छा लगता है

और आकर्षित करता है वही आत्मा से सम्बन्धित आध्यात्मिकता का क्षेत्र है। इसीलिए आध्यात्मिकता की ओर पैठने पर हमारा वास्तविक फैलाव एवं स्थिति अन्तरिक्ष होती चली जाती है। स्थूल-माया के बंधन शिथिल हो कर टूटना शुरू हो जाते हैं। वाह्य गति अन्तर की ओर मोड़ ले लेती है। वाह्य में फैली वृत्तियां सिमट कर अंतर में प्रवेश पा जाती हैं। कहना यही पड़ता है कि वाह्य-वंधन की शृंखला से हमारा सम्वंध टूट जाता है। दृष्टि भी आंतरिक और एकांगी हो जाती है। इससे संस्कारों का अर्थात् कर्मों का बंधन हमें बाँधता नहीं। ध्यान अंतर के पुराने संस्कारों के बंधनों को भी शुद्ध करना शुरू कर देता है। वास्तव में प्राणाहुति द्वारा हमारे अकिंचन प्राणों का महत्-प्राण से योग अथवा संयोग होना प्रारंभ हो जाता है, और, हम स्वयं ही इसे देखते हैं। जब महत् प्राण में हमारा प्रवाह किसी सीमा तक हो जाता है, हम एक हो रहते हैं, तो फिर प्राणाहुति का मिलना या न मिलना एक-सा ही प्रतीत होने लगता है। इतनी मिली-जुली हमारी आंतरिक दशा इससे रहती है कि हम यह अन्दाज़ ही नहीं लगा पाते हैं कि प्रणाहुति हमें मिल भी रही है अथवा नहीं। इसका एक कार्य मैंने

ऐसा भी अनुभव किया है कि जिस समय से यह अन्तर में प्रवेश पाती है उसी समय से अन्तर का घनत्व, अर्थात् दबाव, कम होना शुरू हो जाता है। अथवा, यों कहें, कि हम अपने अहं के दबाव से हल्के होते चले जाते हैं। यहाँ तक कि एक समय ऐसा आ जाता है कि लक्ष्य में लय रहते हुए हम अहम् के कुल दबाव से साफ़ परे निकल जाते हैं। पूर्णतयः शून्य से हो जाते हैं। संतों ने इसकी संज्ञा 'शून्य समाधि' के नाम से की है। यह कहावत अनुभव-सिद्ध हो जाती है कि हल्के होकर ही हम ऊपर उठ पाते हैं।

मैने यह भी देखा है कि प्राण-शक्ति की प्राप्ति से प्राणायाम भी सिद्ध होता चला जाता है, यद्यपि अन्तर भी बहुत होता है। प्राणायाम में श्वास अवरुद्ध करके हम उसे वश में लाते हैं। लोगों के कथनानुसार इससे कभी कभी उनका स्थूल शरीर हल्का होकर ज़मीन से कुछ ऊपर उठ जाता है। बस यही प्राणायाम की क्रिया का श्रेष्ठतम महत्व है। लेकिन प्राणाहुति की पावन शक्ति जब हमें हमारे अहम् के दबाव से परे उछाल देती है तो शरीर का भान कभी होता ही नहीं। ऐसा लगता है कि हम उसे छोड़कर वहां ठहरते जा रहे हैं जहाँ की हमें ख़बर ही नहीं है। किसी

शायर का यह विचार हम ऐसी दशा के रूप में अनुभव करते हैं कि 'न बहार ने छुआ, न मातम ही छू सका, तुमने कभी छुआ यह पता किसे हो ?' इसकी एक विशेषता यह भी है कि जहां तक हमारा फैलाव हो जाता है, जहाँ तक अहम् के दबाव से हम अछूते रहते हैं, वहां से नीचे की रहनी का आधार ही मिट जाता है। इसीलिए वहाँ से फिर कभी हमारा सिमटाव नीचे नहीं हो पाता है और न फिर उस समाप्त हुए अहम् के बंधन में ही कभी हम आ सकते हैं। प्राणायाम की क्रिया छोड़ने के बाद तो हम फिर ज्यों के त्यों रह जाते हैं। अर्थात् क्रिया छोड़ने के बाद उसके परिणाम से भी हमारा साथ छूट जाता है। लेकिन प्राणाहुति द्वारा जो भी दशा एवं गति हम प्राप्त करते हैं, वह हमारी ही गति हो जाती है। हमारा स्वरूप ही वह हो जाता है। हम उससे हट नहीं सकते हैं, और न कभी नीचे ही आ सकते हैं। दबाव से परे हो जाने पर इसका एक स्वच्छ और सशक्त परिणाम यह यह भी होता है कि हम सूक्ष्म हो कर लक्ष्य प्राप्ति की ओर और भी शक्तिमान और तीव्रगतिमान हो जाते हैं। प्रिय में लय रहते-रहते उनकी वह सूक्ष्म शक्ति भी हमारी आत्मिक उन्नति में सहायक सिद्ध

होती है। हमारी उन्नति में चार चाँद लगा देती है। पहले तो हम वाह्य से सिमटने हैं और अंतरिक्ष में फैलते हैं। फिर दिव्य एवं अनन्त लक्ष्य में टिकी दृष्टि के द्वारा अंतरिक्ष को भेद कर विराट में स्वतः ही हमारा फैलाव शुरू हो जाता है।

विराट अर्थात् दिव्य फैलाव, ईश्वर के दर्शन का ही एक अंग कहा जा सकता है। यह अंग स्थूल नहीं, सूक्ष्म है। इसमें रूप, रंग, किसी का अंदाज़ नहीं होता है बल्कि लगता है कि हम विराट में ही समा रहे हैं। अब एक विशेष स्थिति यहां दिखाई देती है जिसे श्री बाबू जी को लिखने पर कि "जो भी घटना संसार में घटने वाली है पहले मुझे दिखाई पड़ जाती है" उन्होंने लिखा था कि "सत्य है; भगवान कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान कर इसी विराट की स्थिति को दिखाकर कहा था कि 'देख, कौरव, तो पहले ही मर चुके हैं, तू केवल निमित्त बन जा।' जो कोई भी विराट की स्थिति प्राप्त करेगा उसे यही अनुभव होगा।" ऐसा बाबू जी ने लिखा था और मैंने भी देखा है। पर इस दशा से परे उठने पर, फिर इसका आभास नहीं मिलता है। प्राणाहुति की शक्ति द्वारा हम श्री बाबू जी को ही पहले ईश्वर के

विराट में फैला देखते हैं। फिर उनमें चिपके, लय हुये, उनके साथ ही हमारा फैलाव भी विराट में होने लगता है। यही दिव्य व्यक्तित्व से चिपक जाने की महत्ता है। साथ ही साथ, हमें भी पावन प्रसाद मिलता है कि उनमें प्रवेश पाए हुये जहां तक भी उनका विस्तार दिव्यता में है वहां तक अत्यंत सरलता से हमारा फैलाव होता जाता है। इस लय-अवस्था की एक सीमा में पहुँचने पर हम ऐसा पाने लगते हैं कि उनके विराट् की वह व्यापक शक्ति जो हमें सहारा दे रही थी अब उससे परे, ईश्वर के सर्व-शक्तिमान रूप में, हमें एक धक्का सा देकर उसमें योग दे देती है। सद्गुरु हमारी बाँह थामें ही रहते हैं, और, हम उनके पावन विराट आंचल में ही अविचल बने, उससे भी सूक्ष्म विराट सर्व शक्तिमान की दशा में प्रवेश पा जाते हैं। ऐसी दशा में प्रवेश पाकर मानो ईश्वरीय-शक्ति का भण्डार ही हमारे रहनी का स्थान हो जाता है। इतना ही नहीं, उन पावन प्राण में समाए हुये हमारी उस दिव्य-देश की सैर शुरू हो जाती है। फिर क्या खूबी होती है कि ईश्वरीय शक्ति का यह दिव्य पसारा हमारा स्वयं का स्वरूप भास होने लगता है। हमें लगता है कि कुल

संसार, सूरज, चाँद, सभी कुछ, मानों हमसे ही उत्पन्न हुए हों। इस अनुभव के लिखने पर श्री बाबू जी ने लिखा था कि 'तुम्हारी सैर सर्व शक्तिमान की दशा में शुरू हो चुकी है।' यह भी लिखा कि "हमारे यहाँ केवल दर्शन की ही महत्ता नहीं है बल्कि, 'जानत तुमहि, तुमहि होइ जाई' वाली हालत सत्य प्रत्यक्ष हो उठती है।" धीरे-धीरे जब श्री बाबू जी महाराज देखते हैं कि इस स्थान की दशा की सैर पूरी हो चुकी है अर्थात् हम कुल दिव्य पसारे में समा गए हैं, तो वे अपनी प्राणशक्ति द्वारा ईश्वरीय दिव्य व्यापकता की हालत में हमें प्रवाह दे देते हैं। धीरे-धीरे हमारा वहाँ भी रमाव प्रारम्भ हो जाता है। तो फिर सैर भी प्रारम्भ हो जाती है। जब हम इस सीमा तक उनकी कृपा से यात्रा पार कर लेते हैं तो आगे एक अनोखी गति और अनुभव में पाते हैं। ऐसा लगता है मानो ईश्वर ने अपनी पूर्ण कृपा भी हमें सौंप दिया है। किन्तु, तब हम विरक्ति की चरम सीमा को भी पार किए हुए, ईश्वरीय-देश में भी बहार न ले पाते हुए, सद्गुरु श्री बाबू जी की बाहें थामे, कहीं श्रेष्ठ एवम् अनन्त की यात्रा की ओर चल देते हैं। इसे कौन कह सकेगा? कौन जानेगा? 'सत्य अंतिम को भी प्रत्यक्ष उतारे हममें, कौन जानेगा कि यह भेद कहाँ पलते हैं?'

लेकिन मैं कहूँगी अवश्य। उनसे जैसे और जितनी भी अनुभव की दृष्टि हमें मिलती है उसी के द्वारा कहने की चेष्टा करूँगी। यहाँ प्राणाहुति शक्ति का कार्य बदल जाता है। हमें इसका अंदाज़ तक नहीं हो पाता है। चाहे खुद साधना करें या दूसरों को करवायें प्राणाहुति का अलग अंदाज़ नहीं हो पाता है। या, यों कहें (सद्‌गुरु का यह भेद भी खोलना ही होगा) कि वह यौगिक-प्राणशक्ति अब योग देने वाली कड़ी न रह कर उस महत् अनन्त गति में मिल जाती है। जब एकत्व प्राप्त हो गया तो कड़ी की ज़रूरत भी क्या? ज़रूरत तो खत्म हो गई। पर फिर अब श्री बाबू जी ने कृपा पूर्वक लिखा कि 'यात्रा अभी पूरी नहीं हुई है। अब अनन्त की यात्रा शुरू हुई है।' वहाँ तो ईश्वरीय कृपा का नहीं बल्कि केवल सद्‌गुरु का ही साहस होता है कि वह अपनी अनन्त यात्रा पूर्ण कर, अनन्त में समाहित हुआ हमें भी अनन्त में अपनी शक्ति द्वारा प्रवाह देता जाता है। कबीर ने इसी स्थिति पर आकर कह दिया कि 'हद-अनहद के बीच में रहा कबीरा सोय।' ईश्वर की कृपा हमें सीमा तक तो सहारा देकर ले गई। लेकिन, फिर तो किसी सद्‌गुरु की ऊँची हस्ती की ही आवश्यकता

होती है जो हमें अनन्त में प्रवाह दे सके, उसमें पैराता हुआ, हमारे कुल को संभालता एवं संचालन करता हुआ, ले चले जिससे ऐहिक एवं दिव्य, किसी कार्य में, रंच-मात्र भी कमी न आने पाये। ऐसी महत्-शक्ति के स्वामी एवं दिव्य व्यक्तित्व वाली हस्ती आज श्री बाबू जी के अतिरिक्त कोई नहीं दिखाई पड़ता है। श्री बाबू जी का यह कथन आज सत्य हो गया है कि 'दर्पण में अपना मुख सभी देख सकते हैं, किन्तु दर्पण स्वयं अपना मुख नहीं देख सकता है।' फिर भी वे लिखते हैं कि 'अभी तो बहुत चलना है।' चलना क्या है ? न राह है, न राही है, न शक्ति है न सामर्थ्य है। अब लक्ष्य प्राप्ति की ओर जिस प्रकार का हमारा लगाव होता है, वैसे ही लगाव से उनका कार्य हमारे द्वारा होने लगता है। उनमें समर्पित बुद्धि वैसे ही तरीके हममें उतारने लगती है। उसे मैं खुद देखती हूँ। अभ्यासी भी ऐसा ही अनुभव करते हैं कि भक्ति में डूबे उनकी गति लक्ष्य की ओर बढ़ चलती है। कैसा अनन्त का विस्तार है कि विना सागर के ही हमारा पैरना शुरू हो जाता है! पैरने का भी केवल एक अंदाज़ मात्र है जिसे हम व्यक्त करने के लिये ही कहते हैं। हमारा, अपना-पराया, अब कुछ नहीं रहता

है। न कुछ आता है न कुछ जाता है। देना-पावना, समाप्त हो जाता है। न कुछ बनता है न बिगड़ता है क्योंकि अविचल एवं प्रशान्त हमारा स्वरूप ही हो जाता है।

यह सर्वविदित है कि उजाले के पीछे अंधेरे का अवश्य ही निवास रहता है। अब ईश्वर दर्शन तो हो गया। सामने उसे पाकर निहाल हो गए। मानव जीवन धन्य हो गया। अब इसके पीछे क्या है ? इसे देखने के लिये बाबू जी का पावन दामन थामे हम चल पड़ते हैं। इसमें न यात्रा ही होती है, न सैर ही होती है। श्री बाबू जी के शब्दों में 'बका ही बका' अर्थात् परिपक्वता ही फैली मिलती है। लेकिन बदलते सूक्ष्म अन्दाज़ अथवा हालत खुद यह बताती है कि मंज़िल पर हम कहाँ तक आ पहुँचे हैं। अर्थात् लक्ष्य अब हमें खुद अपना पता देता है कि वह कहां तक फैला है। प्राणाहुति का कार्य हमारे लिए कब का समाप्त हो जाता है। लेकिन श्री बाबू जी का कार्य हमारे लिये अब बढ़ जाता है। केवल सद्‌गुरु की इच्छा-शक्ति ही हमें जहाँ चाहती है, जैसे चाहती है, ले चलती है। हम तो केवल उनकी देन के साक्षीभूत हुए से रहते हैं। ईश्वरीय-शक्ति अर्थात् प्राणाहुति का कार्य,

मनुष्य को दिव्य बनाने के लिये, ईश्वर से मिलाने के लिए, होता है। पर जब हमारा सौभाग्य ही वैसा हो गया तो फिर न इसकी आवश्यक्ता ही रहती है और न अलगत्व ही। सब मिलकर एक हो जाते है। मैंने यहाँ तक पाया है कि श्री बाबू जी ने जिन क्षेत्रों को हम अभ्यासियों को पार कराया है और जिनका अपनी पुस्तक में भी वर्णन किया है (जैसे हृदय-क्षेत्र, मनः क्षेत्र, एवं केन्द्रिय-क्षेत्र, इत्यादि) वे सब भी एक हो जाते हैं। उनका अलग अस्तित्व हमें कहीं नहीं मिलता है। अब हालत ऐसी होती है कि दूध का दूध और पानी का पानी रह जाता है। केवल दिव्य ही दृष्टि में ऐसा समा जाता है कि देखो तो वही है, न देखो तो वही समाया रहता है।

प्राणाहुति की कार्यक्षमता

प्राणाहुति की महत्ता के पश्चात् उसकी कार्य-क्षमता पर प्रकाश डालना आवश्यक है। प्रथम तो पावन दिव्य-ईश्वरीय-गतियों के अनुभव ने फिर दिव्य दृष्टि ने, मुझे यही दिखाया है कि प्राणाहुति, अमोघ-यौगिक शक्ति है। दूसरे शब्दों में, वह केवल ईश्वरीय-शक्ति की ऐसी पावन धारा है जिसे हृदय में पाकर हम आध्यात्मिक क्षेत्र में बढ़ पाने के योग्य हो जाते हैं और शीघ्र ही अपने को उसके अनुरूप ढला हुआ भी पाने लगते हैं। प्राण-शक्ति की कार्य-क्षमता अपने क्षेत्र में अद्‌भुत है। कब ? कितनी जल्दी ? कैसे ? हम अपने लक्ष्य की ओर अनजाने में भी बढ़े चलते हैं इन सब का पता हमें तभी लग पाता है जब इसकी कार्य दक्षता द्वारा हमारा संस्कारों से भरा अंतर खाली होने लगता है और हम इतना हल्कापन व विशुद्धता अनुभव करने लगते हैं मानों किसी ने जन्म-जन्मान्तरों का बोझ हमारे हृदय से उतार कर खाली कर दिया हो। कबीर का यह कथन 'जो चलना राह नाजुक है, हमन सर बोझ भारी क्या' हम स्वयं की

अंतरदशा में प्रत्यक्ष पाने लगते हैं। श्री बाबूजी द्वारा प्रदत्त पावन-प्राण-शक्ति द्वारा सर्व प्रथम हमारा अंतर हल्का एवं विशुद्ध होता है। फिर, सद्गुरु की आज्ञा मिलने पर इसके द्वारा ही प्रिसेप्टर लोग ध्यान में जुटे अभ्यासी–बन्धुओं के भी हृदयों को ईश्वरीय प्रकाश से प्रकाशित कर, 'उसकी' प्राप्ति के योग्य ढालना शुरू कर देते हैं। इस प्रकार श्री बाबू जी के जन के आत्मिक-कल्याण के महान कार्य में सहायक-रूप में थोड़ा-बहुत सहयोग देने लगते हैं। श्री बाबू जी महाराज की दी हुई इस दिव्य-शक्ति की यह भी अलौकिकता है जो कि प्राणशक्ति इस प्रकार प्रिसेप्टरों को दूसरों के आत्मिक-स्तर उठाने के लिये मिलती है वही स्वयं उनकी भी शीघ्र व अमोघ उन्नति के लिये सहायक होती जाती है। अर्थात्, एक और एक मिल कर ग्यारह का कार्य सम्पन्न होने लगता है।

श्री बाबू जी महाराज ने भी मुझसे कई बार कहा था कि 'इस संचरित होने वाली शक्ति को इच्छा संकेत दें, फिर सजगता भरी दृष्टि से परिणाम देखें।' मैंने तो वास्तव में यही पाया है कि प्राणाहुति शक्ति वह जादू है जो सिर चढ़ कर बोलता है। इतना तो अवश्य है कि इच्छा जितनी ही सुदृढ़ एवं निःस्वार्थ

होगी, प्राणशक्ति की सक्रियता उतनी ही दक्ष एवं तुरन्त फलदायी होगी। इतना ही नहीं, मैंने यह भी देखा है कि जब हमारी लय-अवस्था 'मालिक' में इस तरह की हो जाती है कि सूक्ष्म होते होते लय रहने की कुव्वत या सजगता भी समाप्त हो जाती है तभी से इच्छा शक्ति अचूक एवं सुदृढ़ होना शुरू हो जाती है। दिव्यता में और भी पैरने पर एक दिन ऐसा भी आ जाता है कि हमारे सभी विचार भी इतने शक्ति-मय हो जाते हैं कि हर विचार मानों इच्छा-शक्ति अथवा शक्ति रूप ही बन जाता है। फिर तो चाहे कुछ भी हो आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रकृति को भी उसकी इच्छा-शक्ति के सामने झुक जाना पड़ता है। मुझे अच्छी तरह से याद है कि एक बार श्री बाबू जी महाराज ने कहा था कि 'बिटिया ! ऐसा मन आता है कि तुम्हारी पीठ पर एक घूंसा लगा दें।' मैंने तुरन्त उत्तर दिया—'बाबू जी ! जरूर ही ऐसा करें। यह भी मेरे लिये अति सुखद होगा।' वे बोले 'नहीं, तुम कमज़ोर हो।' लेकिन आश्चर्य कि शीघ्र ही मेरे मुख से निकला कि 'बाबू जी, आपका घूंसा तो मेरी पीठ पर आ गया है, और, परिणाम-स्वरूप तमाम पीठ में दिव्य-स्पन्दन और प्रकाश पैदा हो गया है।'

यह घूंसा लगभग छः महीने तक मेरी पीठ से लगा रहा। केवल इच्छा मात्र का यह स्पर्श किन-किन चीजों एवं शक्ति का निखार पीठ के बिन्दुओं में लाया था यह मै नहीं कह सकती। मैने यह भी देखा कि अभ्यासियों में किन्हीं बिन्दुओं को तुरन्त जागृत-अवस्था में लाने के लिये श्री बाबू जी का स्पर्श तत्क्षण सफल हो जाता है। वे तुरन्त ही उसका प्रभाव स्वयं में पाने लगते हैं।

जन साधारण का बहुधा यह विचार रहता है कि श्री बाबूजी इतने ऊँचे हैं तो उनके द्वारा हमारे सांसारिक कार्य व कमियों की पूर्ति हमारी इच्छानुकूल अवश्य ही हो जाना चाहिये। ऐसी बहकावों एवं चमत्कारों में भूली बुद्धि से वे इतना तक नहीं समझ पाते हैं कि 'उनकी' ऊँचाई किस दिशा की ओर है? उन्होंने विशेषता या दक्षता किस दिशा में प्राप्त की है? यदि हम एक वैज्ञानिक से हिन्दी विषय की बारीकियों पर प्रकाश डालने को कहें तो क्या उसके लिये वैसा करना सम्भव हो सकेगा? संसार एवं रचना से परे उठ कर भी 'रचयिता' (ईश्वर) से मिलाप हो सकता है। तो फिर 'उनसे' ऐसी निम्न इच्छा-पूर्ति की आशा रखना क्या हमारे लिये उचित

होगा ? यह अवश्य है जैसा मैंने देखा भी है कि यदि किसी कारण-वश उनके मन में हमारे लिये करुणा उत्पन्न हो जाती है तो सांसारिक:कार्य भी हमारे तुरन्त बन ही जाते हैं, लेकिन तभी, जब हमारी ज़रूरतें उन्हें अपनी प्रतीत होती हैं। यदि सांसारिक-चमत्कारिक-पुरुष से हम कहें कि वह हममें ईश्वरत्व का निखार ले आये तो क्या उसके लिये वैसा करना सम्भव हो सकेगा ? श्री बाबू जी का यह कथन कितना सत्य है कि 'ईश्वर को ईश्वर मान कर उसी रहनी व अनुरूप साधना द्वारा ही उसे पाया जा सकता है। उसे इन्सान बना कर नहीं पाया जा सकता है। यह उसकी तौहीन है।' हम उसके से होकर ही उसे पा सकते हैं। उसे अपना-सा बनाकर पूजने से उससे दूर होते चले जाते हैं। मुझे अपनी एक लाइन याद आ रही है 'आना मुश्किल था सीमा में उनको, मिला असीम में देखा मुझको।' अर्थात् जब हम उसकी प्राप्ति की दिशा में उसके ही अनुरूप ढल कर बढ़ते हैं तो एक दिन अवश्य आता है कि हम स्पष्टतया इस पंक्ति को चरितार्थ होते देखते हैं।

यह उनकी लाचारी भी हो जाती है क्योंकि

उनके जीवित रहने, संसार में रहने का लक्ष्य ही केवल समस्त को आत्मिक-कल्याण देना रह जाता है। उनके विचार में ऐसा आते ही यह विचार इच्छा-शक्ति में बदल जाता है। और, इच्छा का संकेत होते ही हम में वैसी ही प्राणाहुति की कार्यदक्षता शुरू हो जाती है। एक नहीं अनेकों बार मेरी आँखें भर आई हैं, हृदय गद्गद् हो उठा है कि 'बिटिया को चोट न लगे, मन भी रह जाये, और बनाने का काम भी पूरा हो जाये।' मुझे याद है कि एक बार शायद बिन्दु 'Z' की अत्यन्त आनन्दावस्था को पार कर जाने के बाद जब उस स्थिति के रसानुभव को कुछ दिन अपने में ठहरे रहने की मैंने प्रार्थना किया तो उन्होंने लिखा था कि 'गुरु का धर्म तो यही कहता है कि शिष्य को ऊपर उठाता जाये, पर तुमने पार की हुई अवस्था का आनन्द मांगा है। बच्चा कुछ मांगता है तो मां का मन उसे देने को उमड़ ही जाता है। इसने मुझे द्विविधा में तो अवश्य ही डाल दिया, पर मैंने एक उपाय निकाल लिया है जिससे गुरु धर्म के पालन के साथ ही साथ बच्चे का मन भी रह जावे। वह यह है कि मन की ऊर्ध्व-वृत्ति को तो मैंने आगे के बिन्दु अर्थात् 'Z' की दशा में पैराव दे दिया है और अधो-

वृत्ति को जो बहुत हद तक प्राणाहुति द्वारा पवित्र हो जाती है, 'Z' बिन्दु की दशा में प्रवेश दे दिया है। इससे तुम्हें दोनों बिन्दुओं की स्थितियों का आभास मिलेगा।' अद्भुत है अपने दिव्य क्षेत्र में उनकी दूरदर्शिता! अचूक होती है हममें उनकी पावन-प्राणाहुति द्वारा जगाई उस दिव्य-सजगता का कार्य!

शोध की दृष्टि से वे मुझमें उन्नति पाये अनेकों बिन्दुओं या क्षेत्रों के नाम A,B,C,D, इत्यादि, रख कर देखते गये हैं कि ईश्वर प्राप्ति अर्थात् उच्चतर पहुँच तक हमें कितने मुख्य बिन्दुओं का सैर करके पार करना होता है। तब जाकर अपने अन्तिम-सत्य की दिव्य-दशा का पता मिलता है। ऐसे ५२ मुख्य बिन्दुओं को उन्होंने खोज में तब पाया है जबकि विभिन्न दशाओं अर्थात् पिण्ड देश, ब्रह्माण्ड मण्डल, पार ब्रह्माण्ड मण्डल, प्रपन्न, प्रभुप्रपन्न, इत्यादिक के बाद उन्होंने देखा है। जब मुझे षटचक्रों को जागृति-अवस्था में लाकर, सैर कराकर, सहस्र-दल कमल-चक्र की सैर में लाये तब मैंने पाया कि वहां से हमारा संबंध श्रेष्ठ-लक्ष्य से संबंधित हुआ मिलता है। इसके आगे अपनी पावन-प्राण शक्ति द्वारा वे

ब्रह्मरन्ध्र के बिन्दु पर ले चलते हैं। यह स्थान जहां चोटी रखी ज़ाती है वहां है। तब उन्होंने लिखा था कि "यह वह स्थान है जहां से 'घर' में तुरन्त प्रवेश पाने का जी होने लगता है। जब 'रूह' द्वार सामने खुला देखती है तो निकल कर 'घर' पहुंचना चाहती है।" शायद इसीलिये योगी का प्राण यहाँ से निकल जाता है। फिर लिखा कि 'इस स्थान पर सद्गुरु का ही काम है कि रुह को स्वयं में समा कर इस तरह से ब्रह्मरन्ध्र बिन्दु से उछाल कर ले जाय कि ज़रा भी विलम्ब न हो पाये।' फिर आगे की दशा अर्थात् केन्द्रीय-क्षेत्र में स्थापित कर देते हैं। तब कहीं जाकर गुरु का कार्य हल्का होता है। सद्गुरु की महती कृपा का वर्णन किस प्रकार किया जाय? न कोई कर सका है न कर सकेगा?

स्वयं में अनेकों उन्नति-बिन्दुओं को उनकी प्राणशक्ति द्वारा पार करने के संबंध में मैंने यह पाया है कि श्री बाबू जी के ख्याल में यह आते ही कि अमुक बिन्दु से इसे पार करा दें मैने उस बिन्दु से अपने को तुरन्त ही पार हुआ पाया है, और, फिर अगले विस्तृत बिन्दु का क्षेत्र सामने देखा है। फिर इस नवीन क्षेत्र की सैर कराने का विचार मात्र आते ही

मुझे वहां पर उनकी इच्छा का एक हल्का, सूक्ष्म एवं क्षणिक झटका लगा, और फिर उस क्षेत्र में भी सैर शुरू हो गई ।

ब्रह्म-विद्या के क्षेत्र में उनकी प्राणाहुति-शक्ति की कार्य-दक्षता एवं कार्य-क्षमता मैने तुरन्त-फलदायी एवं अचूक पाई है। उनकी पावन इच्छा-शक्ति का जादू-भरा कमाल मैने अनेकों बार स्वयं में और अभ्यासी-बन्धुओं में पाया है, और पा रही हूं। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक बार उन्होंने बहुत सहज ढंग से मुझसे कहा कि 'बिटिया ! लोग कहते हैं कि आप एकदम से ही सारी दुनियां के लोगों को क्यों नहीं लक्ष्य (ईश्वर) तक पहुंचा देते हैं ? ऐसा हो तो सकता हैं, लेकिन बिटिया ! तुम्हीं सोचो मै दुनिया बदलने यानी ईश्वर की तौहीन करने नहीं आया हूं। ईश्वर को अपना बनाकर उसी की ईश्वरीय-शक्ति द्वारा समय तथा मानव-हृदयों को श्रेष्ठ बनाने के कार्य करने आया हूं। इसके लिये वातावरण को बदलना बहुत आवश्यक है। वातावरण बदलने की मेरी कोशिश ज़रूर कामयाब हो रही है, और, उसे तुम या कोई भी, दृष्टि में थोड़ी सी ही दिव्यता पाए हुए, देख भी सकता है। और तुम बता

भी रही हो।' मैने स्वयं भी इसका प्रमाण पाया है। मैने लिखा भी है कि चार वर्ष पहले जब हम 'सहज-मार्ग' पद्धति के अन्तर्गत ईश्वर-प्राप्ति के सरल उपाय एवं साधना-ध्यान के बारे में लोगों को बताते थे और प्राणाहुति के विषय उन्हें समझाते थे तो वे लोग ऐसे सुनते थे मानों सुनी-अनसुनी कर बैठे हैं। पर, आज मैं डंके की चोट पर कह सकती हूं कि जहाँ कहीं हम इस विषय पर बोलते हैं तो लोग मुग्ध होकर सुनते हैं, अनुभव भी करते हैं, और अनेक लोग ध्यान भी शुरू करते हैं।

आज प्राणाहुति-शक्ति की पावन एवं चरम-दक्षता एवं कार्यक्षमता भी अवश्य ही स्वीकार की जाती है, चाहे साधना प्रारम्भ करें, या न करें। हमारी बातें सभी के हृदय स्वतः स्वीकार करते जा रहे हैं। आगे क्या होनें वाला है ? कितनी दिव्यता का प्रसार होगा ? यह कौन जाने ? हममें से जो देखेगा सो देखेगा। प्रसन्नता की एक बात मैं यह और पा रही हूं कि जितना ही हम लोग बदल रहे हैं और दिव्यता का निखार अपने में ला रहें हैं, उतना ही उनके काम में भी हमारा सहयोग बढ़ता जा रहा है। हम जब दस थे तो अनुमानतः उतना ही वाता-

चरण पर असर था। बीस हुए, सौ हुए, हज़ारों हुए, तो अब कितना योग वातावरण की शुद्धि का हमने ले लिया है, उसे पावन ईश्वरीय-धारा से सजाने का! आज सहज-मार्ग का दिव्य-सन्देश एवं श्री बाबू जी द्वारा प्राप्त प्राणाहुति-शक्ति की कार्य-क्षमता एवं कार्य-दक्षता देश-विदेशों में फैल कर वातावरण को विशुद्ध बनाती जा रही है। साथ ही साथ, मानव हृदयों को ईश्वर-प्राप्ति एवं वास्तविक शान्ति प्राप्त कर पाने योग्य तैयार करती जा रही है। सफलता समक्ष व्याप्त है। प्रकृति का सहयोग भी साथ है। बड़ी आकांक्षा से आगे की ओर दृष्टि ऐसी भी लगी हुई है कि श्री बाबू जी महाराज ईश्वरीय कृपा का अब कौन सा दिव्य प्रसाद संसार को प्रदान करने वाले हैं? यह अभी कौन कह सकता है? लेकिन इतना तो अवश्य है कि मानव-हृदय उस दिव्यता की देन को स्वीकार कर पाने योग्य अवश्य रहेंगे। यही इस योगी का सत्कार है। मैं तो ऐसा कहती ही जाऊँगी क्योंकि अनुभव की दृष्टि अति सरल एवं सूक्ष्म होती जाती है। उसके समक्ष उतरने वाले दिव्यता के प्रमाण ओझल नहीं रह पायेंगे। कुछ न कुछ बोल ही जायेंगे। इतना ही नहीं, आज मैं यह भी अवश्य

कह सकती हूं कि समस्त अभ्यासी बन्धुओं में अनुभव की दृष्टि का वितरण भी श्री बाबू जी बराबर ही कर रहे हैं। सच तो यह है कि परिवर्तन बोलता है और अनुभव हृदयंगम करता है दिव्य-दृष्टि के पान द्वारा ! आज इस पावन ईश्वरीय धारा को श्री बाबू जी महाराज अपने प्राणों द्वारा हमारे अंतर में प्रवेश दे कर उसमें दृढ़ता भरी आशा का उज्वल प्रकाश प्रदान कर रहे हैं जिससे हम लक्ष्य तक अवश्य ही पहुँच जायेंगे।

एक विशेष आत्मिक स्थिति में पलते अभ्यासियों के मुख से निकले बहुधा इन शब्दों को मैंने स्वयं सुना है, 'हमें तो इस दुनियां में आना ही नहीं है, इतनी सहजता और दावे के साथ वे वैसा कह रहे थे कि उन्हें उसका स्वयं भी अन्दाज़ न था। वास्तव में, वे नहीं, उनकी हालत बोल रही थी। वह हालत जो श्री बाबू जी की इच्छा मात्र के संकेत से उनकी ही प्राणाहुति-शक्ति के द्वारा, अभ्यासियों के अंतर में उभरी हुई थी। प्राणाहुति-शक्ति की कार्यक्षमता मानव-हृदयों को निखार लाने में किस हद तक कार्य कर रही है यह कौन कह सकेगा ? वास्तव में इसकी कार्यक्षमता श्री बाबू जी की केवल इच्छा के एक

संकेत-मात्र में निहित है। प्राणाहुति का प्रभाव मैंने अनुभव में ऐसा पाया है कि "फैज कुछ इस तरह बरसा मेरे दिल के अंदर, भीगा दामन तो कभी सूखे नहीं होते हैं।"

तभी सजल से मेरे नेत्र-द्वय उनके चरणों में यह कहते हुए झुक जाते हैं कि "ये प्राणो की आहुति से पाले जहाँ में, तुम्हारी सदा हो, सदा तुम ही तुम हो।"

सजगता और अनुभव

समस्त विश्व में एक अनदेखी सूक्ष्म शक्ति, एक अनजानी प्राण-शक्ति, का प्रवाह जारी है। प्राणी-मात्र के अन्दर, अनजाने ही, यह प्राण प्रवाह जा रहा है। सृष्टि-रचना में शक्ति के प्रवाह के साथ ईश्वरीय-धारा का सूक्ष्म प्रवाह भी प्राणों में व्याप्त मिलता है। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो इससे खाली हो। सृष्टि में बीज रूप में ईश्वर का ही समावेश है, और, शक्ति रूप में उसकी चेतन एवं विशुद्ध प्राण-शक्ति समस्त में प्रवाहित हुई है। इसका प्रमाण हमें ऐसे मिलता है कि हम जब मुख्य लक्ष्य (ईश्वर) को पीठ दिए रहते हैं तो पूरे होश के साथ उसकी इस दुनिया में ऐसे खो जाते हैं कि उस सूक्ष्म चेतन शक्ति के साथ अन्तर में व्याप्त उससे ही सम्बन्धित सजगता से भी दूर होते चले जाते हैं—वह सजगता जो हमें सतत् शान्ति का संकेत देती थी। हम जीवन के परम लक्ष्य को भूलकर स्वयं को ही भूले रहते हैं। ईश्वर का स्मरण दिलाने वाली वह दिव्य चेतना अन्ततः थक कर हम में ही खो जाती है। इसलिए

अन्तर में अशान्ति, भय, एवं निर्बलता का संचार किसी कोने में जन्म लेकर पनपने लगता है। गीता में कहा है कि तू निर्भय हो जा', लेकिन कैसे हों ?

जब कभी कोई सद्गुरु ईश्वरीय-दिव्य-महा-शक्ति के साथ संसार में आता है और दूसरों को जगाने के लिये अपनी इच्छा-शक्ति को प्राणाहुति के प्रवाह द्वारा हमारे अन्तर में प्रवेश दे सकता है तो फिर एक बार हमारे उद्धार का समय आ जाता है। अन्तर में जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति की सजगता जागकर प्यासे पपीहे की भांति 'पी कहाँ, पी कहाँ' की रट लगाए प्रियतम की ओर उन्मुख हो जाती है। उसकी प्राप्ति की साध हममें प्रबल हो जाती है। ऐसी विकल दशा से ही साधना का प्रारम्भ हो जाता है। साध्य की साध में डूबी हुई आन्तरिक सजगता तथा आत्मिक गतियों के अनुभवों का एक अजीब भाई-चारा है। यदि अन्तर सजग है तो वहां से प्रिय की सामीप्यता के अनुभव आयेंगे ही। और जब अनुभव आयेंगे तो उन्हें किसी भी प्रकार हमें व्यक्त करना ही पड़ेगा। हमारा मानव मन जब दिव्यता की ओर साधना में उन्मुख हो जाता है तो अनुभवों को भी आना ही पड़ता है। ईश्वरीय

धारा में डूबा हुआ अंतर अपना रंग छोड़कर दिव्यता का ही रंग लेने लगता है। किसी भी रंग को पक्का करने के लिए हम उसमें रसायनों को मिलाते हैं। उसी प्रकार मानव हृदय में दिव्यता को पक्का रंग देने के लिए सर्व-प्रथम हम उसे अंतर्निहित ईश्वरीय धारा (रंग) में डुबोये रखने का अभ्यास करते हैं। मैंने देखा है कि धीरे धीरे श्री बाबू जी की प्राणाहुति शक्ति का रसायन मिलते रहने से एक दिन दिव्यता का ऐसा चोखा रंग हमारे अंतर में चढ़ता है कि 'सूरदास की कारी कामरी पर चढ़े न दूजा रंग' हम सत्य हुआ पाते हैं। अन्दर एवं बाहर का सम्बंध ऐसा हो जाता है कि वाह्य रंग (संस्कारों) का अंतर में आना समाप्त होने लगता है। ऐसे अनुभव में हम पलने लगते हैं कि मानों हमारा संसार बाहर नहीं, अन्तर में व्याप्त है। स्थूलता से सूक्ष्मता में प्रवेश पा रहा है। अंतर ही अन्तर में एक सौदा सा, अथवा लेन-देन, स्वतः ही पटने लगता है। खरीददार व देनदार दोनों एक से हो रहते हैं। केवल मात्र सद्गुरु की मनहर, दिव्य छवि पर दृष्टि ऐसी लग जाती है कि दृष्टि में से संसार का नक्शा मिटने लगता है। अन्तर की दिव्यता उन्नति पाते-पाते

विस्तार पाने लगती है। अब आन्तरिक चेतना या सजगता से अनुभव और अनुभवों से आन्तरिक चेतना दृढ़ता पाने लगती है। परिणाम-स्वरूप, अन्तर में आत्म-विश्वास का निखार जन्म लेकर पनप उठता है।

जब कोई स्वयं ही 'लक्ष्य' से बहुत कुछ एक हो जाता है और वतन का मुँह भी उसे देखने को मिल जाता है तो ऐसे अलमस्त योगी या फ़कीर ही दूसरों को वतन ले जाने के योग्य होते हैं। उनका परम लक्ष्य उलट जाता है। वे अपनी इच्छा शक्ति द्वारा हममें भूली हुई वतन की याद को पुन: जगा कर तथा अपने ईश्वरीय-प्राणाहुति का सम्बल देकर हमें बिछुड़े प्रियतम के देश में ले चलने योग्य बनाना शुरू कर देते हैं। वे अपने इस परम लक्ष्य (अर्थात् जन के आत्मिक कल्याण के कार्य) में ऐसी तत्परता से संलग्न हो रहते हैं कि हमें इसका पता तुरन्त बदलते अनुभवों द्वारा मिलने लगता है। ऐसे सच्चे मार्ग-दर्शक की छांव में जब हम आध्यात्मिकता के क्षेत्र में कदम रखते हैं तब मैंने देखा है कि बदलती हुई मनः स्थितियों के आनन्द का अनुभव निश्चय ही हम स्वयं भोग करते हैं। साथ ही साथ, हमारे द्वारा फैलती हुई पवित्रता, वातावरण में उसकी महक फैलाती

जाती है। इससे संसार की दौड़ से थके मांदे लोग, थकान उतार कर, कम से कम शान्ति का तो अनुभव कर पाते हैं। कितना अलौकिक लाभ सबको होता है! अपनी उन्नति के प्रति सजग रह कर हमारा भी आत्मिक लाभ होता है और हमारे द्वारा वातावरण में भी दूसरों के लिए वही पावन धारा भरती जाती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि आध्यात्मिकता का मार्ग अथवा योग का मार्ग स्वार्थी नहीं किन्तु चेतन अवश्य है क्योंकि उसके द्वारा अपनी उन्नति के साथ ही वह आनन्द या पवित्रता हमारे द्वारा वातावरण में भी फैलती जाती है। योग का अर्थ ही है 'वतन' की वापसी। वह वतन जहां से हम सब आये हैं। उस अपने 'मूल' से जिससे हमारा विछोह हुए ज़माना गुज़र गया है एकत्व प्राप्त कर लेना। 'मुद्दत हुई है यार का सिजदा किये हुये' जिसके बिना हमें कभी चैन नहीं मिल पाया है। मीरा की वह मार्मिक पीडा हमारी ही मालूम पड़ती है कि 'जब से तुम बिछड़े मेरे प्रभु जी, कबहुँ न पायो चैन, दरश बिना दुखन लागे नैन।'

संसार तो, प्रियतम की छवि की ओर दृष्टि लग जाने से मिटने लगा। अब तो दुःखते नैनों की

दवा उसके प्रगट हो जाने से ही मिल सकती है। अपने घर लौट जाना स्वार्थ नहीं। यह तो प्रत्येक का कर्तव्य है। प्राणी मात्र के जीवन का परम लक्ष्य यही है। जो घर से स्वयं ही भटक गये वे भला दूसरों को रास्ता क्या बतायेगे ? अपने घर का सुख-चैन, शान्ति एवं स्वतंत्रता की मस्ती, कुछ और ही होती है। वास्तव में, मानव मात्र इसी कारण किसी न किसी स्तर पर दुःखी एवं अभाव से ग्रसित रहता है। परम लक्ष्य की राह लेने पर ही, वास्तव में, हम परम सुख शान्ति की ओर बढ़ सकते हैं, अपनी स्वच्छन्दता को पुनः प्राप्त कर सकते हैं। कठिनाई व देरी इतनी ही होती है कि प्रियतम से बिछुड़े इतना समय व्यतीत हो चुका होता है कि मिलन की साध तक मिट चुकी होती है, भटक चुकी होती है। पर जब श्री बाबू जी की पावन-प्राणाहुति उसी प्रियतम से सम्बन्ध की सजगता को जगा देती है तो वहां से जुड़े सहज-मार्ग का पता हमें मिल ही जाता है। इसके लिए समर्थ सद्गुरु का ऋण कभी उतारा ही नहीं जा सकता है। सहज सा मार्ग आज प्राणी-मात्र के लिए ईश्वर का द्वार दिखाने को, उन्मुख एवं सुलभ है। हमें दिव्य राह पर डालने के लिए प्राणाहुति की शक्ति प्रस्तुत है। हमारे अन्तर

मन को पढ़ कर वैसी ही सानुरूप दिव्यता में निखारता हुआ, हमें लक्ष्य के प्रति जागरूक रखता हुआ, अपने अन्तिम सत्य की ओर ले चलने की समर्थ शक्ति आज हमारे समक्ष विद्यमान है। इससे बढ़कर परोपकार और कुछ हो ही नहीं सकता है। मैंने स्वयं देखा है कि हम भूले भटके को सतत् स्मरण में ढालकर, सहज सा मार्ग बता कर, अपनी पावन प्राणशक्ति के द्वारा वतन की वापसी का ध्यान दिलाकर, उस ओर ऐसे ले जाते हैं जैसे बालक मां के साथ चलकर न थकता है, न बहकता है, न जगमग सितारों की चौंध से चकाचौंध ही हो पाता है। यह श्री बाबू जी की कृपा है। उनके महत्व का वर्णन नहीं किया जा सकता है। हाँ, उनकी देन के प्रति सतर्क रह कर उन अनुभवों का रसपान कर हम मन ही मन उनके चरणों पर विनीत हुए झुके से पड़े रहते हैं।

ईश्वर-प्राप्ति के खोजी अभ्यासियों के अन्तर में जब वे अपनी प्राणाहुति शक्ति का प्रवाह देते हैं अथवा अपने प्राणों द्वारा अभ्यासी के प्राण में उस पावन ईश्वरीय-शक्ति की आहुति देते हैं, तो उनकी वह महान् चेतन शक्ति अभ्यासियों के अन्तर में सोई उसी परम-शक्ति को थपथपा कर जागृत की हालत

में ले जाती है जिसे लक्ष्य–प्राप्ति के विषय में सजगता कहें तो उचित होगा। फिर हम बेचैन हो जाते हैं मिलन के लिए। इस चेतना के जागृत होने पर अभ्यासी ऐसा अनुभव करता है कि वह सोते हुए भी लक्ष्य प्राप्ति के प्रति जागता रहता है। जागृति और सुषुप्ति एक सी लगने लगती है। यही वह चेतना है जो समर्थ सद्गुरु की प्राणाहुति शक्ति द्वारा हमारे में जागृत हो उठती है और जागृत होकर ऊर्ध्व की ओर उन्मुख हो जाती है। दिव्य-चेतना दिव्य को ही स्मरण करती है। इसी से लक्ष्य प्राप्ति की ओर हमारी चाह एवं गति ऐसी तीव्र होती चली जाती है कि एक दिन तड़प का स्वरूप ले लेती है। इसी चेतना द्वारा दिव्य अनुभव हम में जन्म लेते हैं, पलते हैं, एवं विस्तार पाते हैं। अनुभव से दृढ़ता अथवा आत्मविश्वास बढ़ता है। चाहे कितने भी काम हों, चाहे कैसी समस्याओं में हम उलझे हुए से मालूम होते हों, हर समय ऐसा लगता है कि वह आन्तरिक चेतनता या सजगता हममें ऐसी सक्रिय रहती है कि एक सजग प्रहरी की तरह हमारे अन्तर की पावन-दशा की ऐसी सुरक्षा करती है कि वाह्य-बातों का सम्बन्ध हमारी वाह्य-सतह तक ही रह पाता है,

भीतर नहीं जाने पाता है।

धीरे धीरे ऐसी सजगता को जगाने वाले सद्गुरु से अन्तर का कुछ ऐसा सम्बन्ध होता जाता है कि जागरूक होती हुई समस्त चेतना में उन्हीं का स्वरूप उतर आता है। ऐसा अनुभव होने लगता है मानों अंतर स्वरूप हम तो उनमें ही रहते हैं, और, हमारा शरीर एक मशीन की तरह काम करता रहता है। हम ऐसा अनुभव करने लगते हैं कि संसार हमारे लिए स्वप्नवत् है। जब हम किसी से बात करते हैं, किसी उत्सव में शामिल होते हैं, तो लगता है कि हम वहां ऐसे उपस्थित हैं जैसे स्वप्न सा देख रहे हों। लेकिन स्वप्न से जागते ही जैसे सब खेल समाप्त हो जाता है, वैसे ही वहां से हटते ही वही सजगता हमें मानो पुनः, धीरे से, 'मालिक में प्रवेश दे देती है। हमें ऐसा लगता है कि हम केवल मालिक के ही हैं। क्रमशः, हममें बराबर ऐसा अनुभव रहने लगता है कि वाह्य और अन्तर के बीच कोई सजगता ऐसी खड़ी है जो वाह्य का अन्तर से योग नहीं होने देती। मालिक का दिव्य स्वरूप उसमें समाया होने के कारण तथा अपने अंतिम-सत्य की याद तीव्र रहने के कारण हम यह भी अनुभव करते हैं कि मालिक हममें

समाया हुआ है ।

एक ओर तो यह पावन-चेतना सजग रहती है कि वाह्य चीज़ों से हमारा अन्तर अशुद्ध न होकर सुख दु:ख से परे रह सके। दूसरी ओर, हमारे अंतर का अनुभव जिसमें पावन-ईश्वरीय गतियों का विकास समाया रहता है अपनी विशुद्ध स्थिति द्वारा शीघ्र पहुँचने की याद को और भी थपथपा देता है । तब हम अपने अंतिम सत्य में योग पाने के लिए तड़प उठते हैं। श्री बाबू जी का कथन है कि 'तड़प अपना रास्ता खुद टटोल लेती है' कितना सही हो उठता है !

सद्गुरु-शक्ति से पाई हुई इस चेतन-शक्ति द्वारा सतत् स्मरण हमारे अन्तर में ऐसा भिद जाता है कि जब भी हमें स्मरण आता है, हम स्वयं को कहीं से जुड़ा हुआ पाते हैं । उस ख्याल में डूबे रहते-रहते ऐसे सोते जाते हैं कि फिर हमारा ख्याल (संसार में) ठहर ही नहीं पाता है । एक दिन ख्याल के साथ ही, हम जीवन रहते हुए भी, इससे परे जिसका स्मरण था उन्हीं में रहने लगते है। संसार में कभी लौटते ही नहीं । दशा ऐसी हो जाती है कि एक क्षण की भी ताव नहीं रहती है । मैंने बाबू जी को लिखा था कि 'मुझे ताव नहीं कि एक क्षण ठहर सकूं । समय

नहीं कि किसी ओर देख सकूं। रात दिन का आवरण आंखों से ओझल हो गया है। दीन और दुनियाँ की खबर जाती रही है। अब तो न बाहर के समाचार आते हैं न भीतर के जाते हैं। अब तो बस चलना है। कितना जाना है, कुछ पता नहीं। तड़प इतनी है कि प्यास बुझती नहीं है। मंज़िल की दिशा का कोई ज्ञान नहीं है। बल्कि, मंज़िल खुद-ब-खुद उभरती चली आती है। इसी से शीघ्र मिलन की चाह और भी उभड़ती चली आती है। हर डग उधर ही बढ़ता जाता है।' इसका अनुभव कई प्रकार से मैंने श्री बाबू जी को लिखा है। एक तो स्वप्न तक में भी ऐसी वेदना वाली प्यास बनी रहती थी मानो स्वयं मालिक भर-भर के पिलाता जा रहा है, तो भी ज़रा भी शान्ति होती नहीं थी। हालाँकि 'पानी और लाओ, और लाओ' की तड़प को बुझाना तो क्या शीतलता भी नहीं दे पाता था। इसके लिए मैंने श्री बाबू जी को लिखा था कि 'समुद्र के समुद्र पी जाने पर भी लगता है कि यह प्यास बुझती ही नहीं हैं, बल्कि बढ़ती जाती है।' मैंने उन्हें लिखा था कि 'मैं उस मछली की तरह से जल (प्रियतम) से अलग अब अपने को पाती हूँ कि न मर

पाती हूँ न जी पाती हूं ।' अब जब मैं देखती हूँ तो अनुभव मुझे बताता है कि यह सभी दशायें मालिक की जगाई हुई सजगता अथवा चेतन शक्ति के द्वारा लक्ष्य को अपने में भर लेने के लिये मुझमें प्रवेश करती रही हैं और तत्संबंधी अनुभवों को देकर वह सजगता भी उसी में लय होना शुरू हो जाती है ।

जब तक अभ्यासी में वह शुद्ध चेतना जिसका योग अपने अन्तिम सत्य से होता है नहीं जाग पाती तब तक सतत्-स्मरण का सूत्र भक्ति के साथ लेना चाहिये । सतत्-स्मरण सद्गुरु की प्राणाहुति-शक्ति अथवा ईश्वरीय-धारा को हमारे में खींचता है । वह एक दिन हमको इस हालत पर लाकर खड़ा कर देता है जिससे कि देने वाले का दीदार (दर्शन) तो होता ही है हमें अपने परम-लक्ष्य की जानकारी का आभास भी मिलने लगता है । दीन दुनिया के बीच में सोये हुए हमको सद्गुरु की शक्ति ही, अपनी प्रणाहुति का प्रवेश अन्तर में देकर और लक्ष्य-प्राप्ति की तड़प को थपथपा कर जगा देती है । श्री बाबूजी का वह कथन हमारे लिए प्रत्यक्ष हो जाता है कि (selfishness) (स्व-पना) में से (isness) (पना) हट जाती है, और हमारा लघु स्व (self) महत् 'स्व' (self) में लय होने लगता है । वास्तव में उनकी

पावन प्राणाहुति शक्ति द्वारा, हमारा लघु 'स्व' या सीमित चेतना, महत् 'स्व' अर्थात् महत् चेतना में मिलने को बेकरार हो जाती है। सजगता हमें अनुभव प्रदान करती जाती है और स्व द्वारा हम दिव्य-ईश्वरीय गतियों के अनुभवों का रसास्वादन करते हैं।

अब हमें कुछ करना शेष नहीं रह जाता है। जब हमारा 'हम' महत् में किसी सीमा तक लय हो जाता है तब सजगता स्वयं सजग रहती है कि हमें लक्ष्य तक कैसे पहुंचाये? हमारा योग महत से कैसे पूर्ण हो? हम तो इस योग से भी परे कहीं खो जाते हैं जहां हम खुद, खुद से ही, लापता हुए रहते हैं। इसका हमें प्रमाण भी मिल जाता है। हम सांसारिक रहनी और आध्यात्मिक-सूक्ष्म गतियों के लिए अपने को केवल साक्षी मात्र पाने लगते हैं। एक भेद यह भी खुल जाता है कि जब तक दिव्य गतियों के हम द्रष्टा मात्र रहते हैं तब तक आनन्द का भोग अनुभव द्वारा पाते जाते हैं। जब तक हमारे अन्दर, ईश्वर-प्राप्ति की चेतना सद्गुरु श्री बाबूजी की कृपा एवं शक्ति द्वारा सजग रहती है, तब तक परमानन्द गति का अनुभव हम उठाते हैं। परन्तु जब समस्त में

व्याप्त परम-शक्ति ईश्वर में लय होते-होते हम व्याप्त होने लगते हैं तो फिर हमें अनुभव क्या हो ? कैसे हो ? दूसरी ओर, मालिक (सद्गुरु) जब अपनी प्राणाहुति शक्ति द्वारा हमें, स्वयं में अथवा विराट में, ऐक्यता प्रदान करते जाते हैं तो मैंने देखा है कि प्राणाहुति के आने जाने का अनुभव भी हमारे लिए समाप्त हो जाता है। समस्त शक्ति (एक में एक मिलकर ग्यारह की शक्ति) से सम्पन्न होकर हम लक्ष्य प्राप्ति की ओर ऐसे बढ़ चलते हैं जैसे बर्फ का टुकड़ा जल में गलता हुआ, जल में मिलकर, जल की सम्पूर्ण शक्ति से सम्पन्न होता जाता है। लक्ष्य हमारे में ऐसा समा जाता है कि हमें अपनी ओर देखने अथवा सोचने का अवसर कभी आता ही नहीं। क़ुल में देखने पर, केवल मात्र 'उसका' ही आभास मिलता है। एक दिन उसकी सजगता के भी लय हो जाने की बारी आने लगती है। सजगता की लय अवस्था की प्राप्ति पर कबीर का कथन हमारे लिए सत्य हो उठता है कि—

सहज, सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोय,
जा सहजे हरि जू मिलें, सहज कहींजे सोय ।।

जब हम ऐसी ही हालत में रमे रहते हैं तो ईश्वर हर समय हमारे सामने प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। अनु-

भव, उस नज़ारे को प्रत्यक्ष में पाकर, निहाल सा हो जाता है। हम जिधर भी निकल जाते हैं दिव्य-अलौकिकता एवं अन्तर में पुलकपन के आनन्द का सबको अनुभव होता है। उसे वे व्यक्त तो नहीं कर पाते हैं पर वातावरण में तो महक फैल ही जाती है। इतना ही नहीं, उस समय जो हमारे समीप आते हैं उन्हें मैंने कहते सुना है कि 'इनके आने से बहुत अच्छा लगता है।' कोई कहता है कि 'बड़ी शांति मालूम होती है। स्वतः ही अन्तर में आनन्द या खुशी लगने लगती है'।

कहने के तरीके में अन्तर हो सकता है परन्तु अनुभव एक ही होता है। मुझे भली भांति स्मरण है कि किसी के यह पूछने पर कि 'प्रश्न क्या है? (What is question) मैंने कहा था प्रश्न 'मैं' है और उत्तर 'तू' है (Question is 'I' and answer is 'you)' अर्थात् अब श्री बाबूजी की कृपा से इस प्रश्न का उत्तर हमें हमेशा के लिए दशा के रूप में व्याप्त मिल जाता है। हमारे अन्दर बाहर में प्रत्यक्षता (ईश्वर-दर्शन) की यह दशा एक समान व्याप्त होकर धीरे-धीरे ऐसी परिपक्व होती जाती है कि सांसारिक स्पन्दन हम तक पहुंचते ही नहीं हैं।

हमारा स्वयं का स्पन्दन, हर धड़कन, दिव्य हो जाती है। हम तब स्वयं सहज-मार्ग की यह प्रत्यक्षता निरख पाते हैं कि ध्यान में डूबे हुए, अपने बाबूजी की पावन प्राणाहुति शक्ति द्वारा, हम उस धारा में प्रवेश पा गये हैं जो अपने उद्‌गम से प्रवाहित है। अब हमारे लिए यह सहज दशा हो जाती है कि ईश्वर-रूपी-धारा में समाये हुए अपने अंतिम सत्य में मिलने के लिए बिना किसी आध्यात्मिक-गतियों के अनुभवों का आधार लिए, प्राणाहुति-शक्ति की गति से भी परे हम सहज ही चले जाते हैं। ऐसी सहज गति हमारी हो जाती है कि अब गति अपार होते हुए भी हमें इसका भान तक नहीं होता कि हम चल रहे हैं। हवाई जहाज़ में बैठा हुआ यात्री, जब जहाज़ अपनी स्वाभाविक चाल में एक ऊंचाई पर पहुंच जाता है तो ऐसा अनुभव करता है जैसे वह कमरे में बैठा हुआ है। उसे उसके चलने का या उड़ने का ज़रा सा भी आभास नहीं होता है। हां जब कभी झटका लगता है तब उसे कुछ थोड़ा पता लगता है। इसी प्रकार जब हमारी चाल श्रेष्ठ गति से मिलकर सहज हो जाती है तो हालत बदलने पर ही थोड़ा पता लगता है कि हमारी हालत कुछ बदल गई है। या ऐसा कह लें कि सूक्ष्म हालत में भी सूक्ष्म

में प्रवेश करने पर ही हमें यह थोड़ा पता चलता है कि हमारी हालत कुछ बदल गई है। परन्तु अब इस सूक्ष्म परिवर्तन को मालिक की प्रदान की हुई उस सजगता द्वारा नहीं, बल्कि वैसी ही समान दिव्य-दृष्टि द्वारा, हम तुरन्त लक्ष्य कर लेते हैं। अकसर मैंने ऐसा भी देखा है कि अब दशा के लिखने के लिए सूक्ष्म शब्द सही नहीं लगता है। अब सहज शब्द ही कुछ अर्थ प्रकट कर पाता है। लक्ष्य के प्रति सावधान रह सकने की सजगता अब हममें नहीं मिलती है। अनुभव द्वारा दशा का रसास्वदन करने के लिए हम अनुभव को स्वयं में जगह दे सकें, ऐसा अस्तित्व नहीं होता है हमारा। कबीर का कथन यहीं पर दशा के रूप में सामने आता है—

'कबीर है इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से,
जो चलना राह नाजुक है हमन सर बोझ भारी क्या।'

हम होश गवाये हुओं को भी अपनी कृपा से जो होश वे दे देते हैं, उसके द्वारा सहज गति में सहज ही अपने अन्तिम सत्य की दशा में प्रवेश पाते हुए, अनन्त दशा में लय होते जाते हुए, हमें उस स्थिति का हवाला देने के लिए, होश में लाने के लिए ही, अकसर दिव्य सद्गुरु की ओर से सहज सा झटका प्रतीत होता है।

यद्यपि हम में तो ऐसी अब कुव्वत ही कहां जो हम लय रहने का प्रयत्न भी कर सकें ? दशा तो यह हो जाती है कि :

"प्राण हैं 'आप' तो अब प्राण कहां रक्खें हम ?
प्राणाहुति प्राण में अब बहते नज़र आते हैं।"

सोये से, खोये से, होश गवाएँ से, हम चलते चले जाते हैं, सहज धारा में। धीरे-धीरे ऐसा होने लगता है कि अनन्त के ठिकाने का संकेत देकर फिर उनकी खोज में खोया होश कभी लौटता ही नहीं है या, यों कह लें कि मालिक को यह भी गवारा नहीं कि हम सहज धारा में जा रहे हैं का भी बोझ हमारे होश एवं एहसास पर रह सके। मुझे याद है कि श्री बाबू जी महाराज ने लिखा था कि 'हमारी हालत जब ध्यान रखने के अभ्यास से भी हल्की व सूक्ष्म हो जाती है, तब हमें यह नहीं लगता है कि हम अभ्यास कर रहे हैं।' सच पूछिये तो उद्गम में योग पाई जब सहज राह मिल गई तो अभ्यास तो छूट ही गया, चलने या गति के भी एहसास का बोझ हमारे होश पर क्यों रह जाये ? हम की कैद से मुक्त हुआ हमारा होश अब उनका ही हो जाता है। फिर, लौटे भी तो कैसे ? अब तो लगता है कि स्वयं सद्गुरु ही

राह एवं मंजिल बन कर हमारे सामने व्याप्त हो जाते हैं, और हम ऐसे बढ़ें चले जाते हैं जैसे मां के ऊपर चलते बालक को यह ज्ञात तक नहीं रहता कि वह मां के ऊपर चल रहा है। सत्य तो यह है कि मां को भी यह अन्दाज़ नहीं आता कि उसका बालक उसके ऊपर निर्द्वन्द्व बढ़ा जा रहा है। इसी हालत के लिए मैंने श्री बाबू जी को यह लिखा था कि 'अब तो राह में फूल ही फूल बिछे हुए हैं। अब दूरी ही कितनी रह गई है, बस आ पहुँचे हैं।' ईश्वर की महत्ता एवं शक्ति का कार्य भी जब हमारे लिये पूर्ण हो चुकता है तब एक सीमा पर आकर केवल सद्‌गुरु का ही दिव्य-दामन, समक्ष में, हमें व्याप्त मिलने लगता है। जब एकत्व की दुर्लभ इस गति तक हमें सद्‌गुरु श्री बाबू जी ले आते हैं तो फिर चाह भी किस बात की रहे ? 'एक—एक में कहा विचार, जहां मिलौनी तहां विचार—कबीर की यह सूक्ति हमारी मंज़िल के इस सीमा तक के पहुँच की पुष्टि ही है।

सजगता अनुभव की जान होती है। अनुभव किसी सत्य के साक्षी होने का प्रतीक है। प्रश्न उठ सकता है कि आखिर सजगता का महत्व क्या है, और क्यों है ? प्रत्येक प्राणी तो अपने को सतर्क पाता

है और सजग ही रखता है। यह सत्य भी है और मैं भी ऐसा ही समझती थी। परन्तु सहज-मार्ग साधना में श्री बाबू जी की प्राण-शक्ति द्वारा जब अन्तर में यह (सजगता) जागृत हुई, और, ध्यान की स्थिति मुझमें प्रगाढ़ हुई, तब मैंने पाया कि सचमुच ही मैं अब तक सोई हुई थी। इतना ही नहीं, आगे उन्नति करके मैंने यह भी पाया है कि शरीर के एक-एक कण में, एक एक रोम में, सजगता की यह चेतना छिपी हुई है। एक सतत् सहजता बिखरी हुई है परन्तु उस पर गफ़लत की हालत ऐसी छाई हुई होती है कि हमें लगता तो यही रहता है कि हम पूर्ण सजग हैं, परन्तु वास्तव में श्री बाबू जी की प्राणाहुति शक्ति द्वारा ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था में एक अनोखी जागृति या सजगता पाने पर अनुभव ने यह बताया कि न जाने कब से हम गफ़लत की नींद में सोते आये हैं। जिस रूप में हम अपने को जगा हुआ पा रहे थे और सजग रख रहे थे वह सत्य न था। उसका अस्तित्व कुछ न था परन्तु उसका आकर्षण हमारे वाह्य पर ऐसा हावी हो गया था कि हम यह न जान सके कि जो सामने बिखरा था वह नश्वर एवं भुलावा है, और जो अन्तर में बिखरा है वही 'सत्य'

का जागरुक पसारा है। वाह्य में हम जागते से रहते हुए भी वास्तव में सोये हुए थे। जागृति तो अन्दर में समाई हुई है। वाह्य में जो जागृति-आकर्षण हमें मालूम होता था वह तो किसी 'सत्य तथ्य' का केवल प्रति-बिम्ब मात्र था। यह आकर्षण जागृत रूप में हमें इस कारण मालूम पड़ता था क्योंकि हम पूर्णतया उसमें ऐसे घुल-मिल गये थे कि नश्वर की निद्रा में सोये हुये से हमें वह सत्य एवं जागृत सा ही प्रतीत होता था।

सहज-मार्ग साधना के अन्तर्गत अन्तर में ध्यान में लीन रहने से जब दृष्टि अन्तर में रहने लगी तो अनुभव ने करवट बदला। लेकिन अनुभव कब जागा? जबकि अन्तर में श्री बाबू-जी की प्राण-शक्ति द्वारा जागृति आने पर सत्य और असत्य के बीच की गफ़लत भरी हमारी नींद के समाप्त होने की बारी आ गई। अन्तर में सद्गुरु से प्राप्त यौगिक प्राण-शक्ति द्वारा अन्तिम-सत्य के लक्ष्य के ध्यान ने हमारे अन्तर में जागरण और गहनता को पाया। या यों कहिये कि प्रथम तो स्थूल ध्यान में रत रहते हमने अपने सद्गुरु के साथ अंतस् में (अर्थात् सूक्ष्म में) प्रवेश किया तो अपना खुद का ध्यान भी ओझल

होने लगा—ऐसा अनुभव हुआ । अर्थात् अब हमारी चेतना मे सजगता जाग उठी जिसने हमें ऐसा अनुभव प्रदान किया । जागकर प्राणी को कुछ करना चाहिए । तो सद्‌गुरु ने जो लक्ष्य बताया, साथ में उस पवित्रता का नज़ारा भी सामने दिखाया । फिर देर क्यों होती ? कभी धीरे, कभी तीव्र गति से, मंजिल की यात्रा प्रारम्भ हो गई । अब गफ़लत आना कभी सम्भव ही न रहा । क्यों ? क्योंकि सत्य एवं ईश्वरीय प्रकाश में डूबे रहने से गफ़लत का आवरण हमारे कुल सिस्टम में से उतार कर फेंक दिया । गफ़लत का आवरण हटा तो केवल सजगता ही मैंने व्याप्त पाया । ऐसी अलौकिकजागृति अथवा सजगता ने आगे अलौकिक विस्मृति की दशा में रहने का अनुभव हमें देना प्रारम्भ कर दिया । उससे यह पता चला कि वास्तव में हम जो अभी पूरे होश के साथ यहां संसार में रहते थे अब उस होश के साथ ईश्वरीय-देश में पहुँच कर उसे खोजने लगे हैं । अब वह अनुभव क्या है ? दो हालतों के अन्दाज़ की सजगता एवं पकड़ को अनुभव कहते हैं । और अनुभव की तीक्ष्णता जो स्वयं बोलती है वही आत्मिक दशा होती है ।

विस्मृति अथवा संसार में रहते हुये, काम करते

हुये, बीच-बीच में मानों हम कहीं चले जाते हैं, पिय के देश में—ऐसे होश गुम होने की पकड़ या अनुभव जो सजगता द्वारा हमारे अन्तर में स्वतः ही पैदा होती है वही आगे चलकर ईश्वरीय सूक्ष्म-गतियों के भी अनुभव एवं अन्दाज़ का ज्ञान हमें देती चलती है। अर्थात्, भक्ति और उसके द्वारा प्राप्त ईश्वरीय-गतियों का ज्ञान, साथ ही साथ, चलता है। भक्ति और ज्ञान दो अलग मार्ग हैं, ठीक नहीं लगता है। कभी लगता है कि सजगता अथवा सतर्कता ही खुद सूक्ष्म हालत के रूप में हालत का अन्दाज़ देने के लिए हमारे सामने रहती है। जब हम लिख लेते हैं तो फिर ज्यों की त्यों हो जाती है। अर्थात् सजगता अनुभव को निखारने के लिए कभी स्थूल, कभी सूक्ष्म हुई, होश के साथ लगी रहती है। वास्तव में, सजगता जब पूरे अर्थ में हमारे अन्तर में जागृत हो जाती है तभी सहज-मार्ग की प्रत्यक्षता, हालतों की गहनता, एवं सूक्ष्मता, का अन्दाज़ एवं अनुभव हमें मिलता जाता है। कैसे ? यह पता हमें तभी चलता है जब अन्तर की सजगता तरह-तरह से करवटें बदल कर हमारी हालत की प्रत्यक्षता को हमारे सम्मुख रखती जाती है और हम उन अनुभवों को लिखते चले

जाते हैं। प्रथम तो सद्गुरु के पावन आकार के ध्यान के सहारे अहम् के विसर्जन की स्थूल दशा का प्रारम्भ होता है। फिर मैंने यह पाया है कि यह विसर्जन सूक्ष्म होता चला जाता है और इसके अनुरूप ही सूक्ष्म हुआ अनुभव भी इसके साथ लगा रहता है। तभी आगे चलकर श्रेष्ठ हालतों की प्रत्यक्षता (जो सद्गुरु हममें उतारते हैं) के आनन्द का अन्दाज सतत-सतर्क रहने की आदत द्वारा, हमें मिल ही जाता है। जब अन्दाज़ मिल जाता है तो वह स्वतः ही अनुभव के रूप में व्यक्त हो ही जाता है।

संकल्प और सजगता

जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति का संकल्प लेने से हम उसके अनुरूप ही साधना में अपने को ढालना आरम्भ कर देते हैं। बहुत समय से बिछुड़े हुए उस परम सूक्ष्म, अपने उद्गम, को पुनः पा जाने के लिए हमें अपने को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ढालना आवश्यक हो जाता है। जिस उपाय के द्वारा हम स्थूल से सूक्ष्मता की प्राप्ति करते हैं वही साधना हो सकती है। इसके लिए मैंने स्वतः ही जो सहज उपाय पाया है वह यह है कि परम सद्गुरु श्री बाबूजी के आकार में डूबे रहने के अभ्यास द्वारा, सहज ही, हम (ईश्वर) में प्रवेश पा जाते हैं। दूसरा लाभ मैंने यह पाया है कि उनके ध्यान में लय रहने से हमारा अपना आकार (रूप) भी क्रमशः भूलने लगता है। हम अपने वास्तविक सूक्ष्म में प्रवेश पाते जाते हैं। किसी परम अस्तित्व के ध्यान में डूबे रहने के अभ्यास द्वारा ही हमें खुद के अस्तित्व से अलग होने का अवसर मिल जाता है। ऐसा मैंने स्वयं ही करके पाया है। साधन अनेक हो सकते हैं परन्तु साधना केवल

एक मात्र ध्यान ही हो सकती है। कबीर का कथन अक्षरश: सत्य है कि 'एकहि साधे सब सधें, सब साधे सब जाय।'

जब साधना द्वारा हम अपने को दिव्य के सानुरूप ढलता हुआ पाने लगते हैं तो उसका अनुभव भी हमें मिलता ही है, क्योंकि, साध्य की खोज के लिए संकल्प के प्रति हम सजग रहते हैं। हमें सजग रहना ही पड़ता है क्योंकि संकल्प की पूर्ति के लिए श्री बाबू जी की प्राणाहुति हममें बराबर वह खालीपन पैदा करती है जिससे उस 'हम' से खाली स्थान में 'प्रीतम' भर सके। जब हम सजग रहते हैं तो अन्तर की बदलती हुई स्थिति की सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति के लिए उसी के हिसाब से हमारे अनुभव में दिव्य दृष्टि भी जुड़ी मिलने लगती है। यह दिव्य दृष्टि तो अन्तर में रहती ही है। जब हम जीवन में परम-लक्ष्य की प्राप्ति का चयन करते हैं तभी उससे हमारा काम पड़ता है। परम-लक्ष्य की प्राप्ति के लक्ष्य के अनुरूप ही हम साधना का अवलम्बन लेते हैं। साधना (ध्यान) में डूबे रहने से दिव्य अनुभव हमें मिलना शुरू हो जाते हैं। गीता में भी कहा गया है कि अर्जुन को अपना विराट दिखाने के लिए भगवान

श्री कृष्ण ने 'दिव्य-दृष्टि ही उसे प्रदान किया था। इसी प्रकार दिव्य लक्ष्य के ध्यान द्वारा मिलने वाले अनुभवों के लिए हमें उसी स्तर की दिव्य-दृष्टि मिलती जाती है। जिस स्तर के अनुभव हमें मिलते हैं उसी के अनुसार यह भी सूक्ष्म होती चली जाती है। शायद इसीलिए यह कथन सत्य है कि अनुभव की दृष्टि से कुछ छिपा नहीं रह सकता है। इसका निखार तभी हमारे अन्तर में होता है जब अन्तर में सोई हुई सजगता को समर्थ सद्गुरु अपनी पावन ईश्वरीय शक्ति के द्वारा चेतन कर देते हैं। फिर तो स्वतः ही यह अनुभव और दिव्य दृष्टि अपने काम में लग जाते हैं। जब पावन ईश्वरीय धारा में डूबे हम बर्फ के टुकड़े की भांति स्थूलता से घुलते हुए सूक्ष्म होने लगते हैं तो अन्त के इस शुभ सन्देश को अनुभव की दृष्टि वाह्य में भेज ही देती है।

यह सत्य है कि किसी संकल्प को दृढ़तापूर्वक अपनाने से ही उसके प्रति सजगता जागरुक होती है। शायद इसीलिए गीता में कहा है 'निश्चयात्मिका बुद्धिः।' अर्थात् बुद्धि में निश्चय कर लेना पहली चीज है। दृढ़ निश्चय को निश्चित ही सफलता का प्रसाद मिलता है। अब यह हमारे ऊपर है कि हम श्रेष्ठ अर्थात् जीवन

के परम लक्ष्य को पाने का संकल्प लें, या, सांसारिक आकांक्षाओं द्वारा उसमें ओर उलझते जाने का लें। संकल्प के अनुरूप ही हम उसको पाने के उपायों का अवलम्बन खोजते हैं। उसके अनुरूप ही उसमें स्वयं का ढलाव शुरू होने लगता है। इसलिए यह बहुत आवश्यक हो जाता है कि जैसा लक्ष्य हो उसकी प्राप्ति के लिए उससे ही मिलते-जुलते उपायों का अवलम्बन हम स्वीकार करें। अगर संकल्प कच्चा नहीं है और परम लक्ष्य (ईश्वर) की प्राप्ति के लिए ही है, तो फिर हम उसी के विचार में पूर्णतः निमग्न रहें, उसी का मनन करें, उसी का स्मरण करें। ऐसा करने से उसकी प्राप्ति के लिए उसके अनुरूप ही हममें बातें उत्पन्न होने लगती हैं। उसके अनुरूप ही सद्‌गुरु की भी हमें उतनी ही आवश्यकता रहती है जितनी की लक्ष्य को दृढ़तापूर्वक लेने की होती है। वैसे भी सद्‌गुरु का द्वार ईश्वर ही हमें प्रदान करते हैं। अगर हमें लक्ष्य का ध्यान रहे और सद्‌गुरु की छत्रछाया भी प्राप्त हो गई हो तो ईश्वर-प्राप्ति-संकल्प के लिये दृढ़ता से बढ़ चलने में सजगता हमारा दामन ऐसा थाम लेती है जैसे लालची मनुष्य स्वयं ही धन के प्रति अत्यन्त सजग रहता है।

एक बात यह भी है कि दिव्य सजगता को हम अगर खोजते हैं तो वह हमें सदैव अन्तर में विद्यमान ही मिलती है। यह पैदा होने वाली चीज नहीं है। लगता है कि सृष्टि रचना के साथ ही, इस पसारे में ही, इसका भी रोपण हुआ है। जब हम सहज-मार्ग के ध्यान की साधना में प्रवेश करते हैं तो सद्गुरु श्री बाबू जी महाराज अपनी पावन एवं दिव्य-प्राणशक्ति द्वारा, हमारे अन्तरमन को लक्ष्य के अनुरूप ही संवारना शुरू कर देते हैं। जब अन्तर दिव्यता से संवरना प्रारम्भ हो जाता है तभी से वे हममें विद्यमान दिव्य सजगता को विकसित कर समस्त में व्याप्त ईश्वरीय धारा में योग एवं विस्तार देना आरम्भ कर देते हैं। परिणामतः हमारे गति की परिधि, एवं ध्यान का विस्तार, संकुचित न रहकर विराट में मिलता जाता है। चलते-फिरते सँसार के सारे कार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न करते हुए भी दिव्य सजगता द्वारा अपनी दृष्टि को लक्ष्य से चिपकाये रखने में समर्थ रहकर हम प्रियतम के ध्यान में डूबे रहते हैं। इतना ही नहीं, यह सजगता और भी पावन एवं सूक्ष्म होती हुई, स्थूल से सूक्ष्म स्थिति में प्रवेश पाने में बारीक से बारीक स्तर के दिव्य-अनुभवों को, हमारी

दृष्टि के सामने ऐसा बिखेरती चलती है जैसे हंस दूध और पानी को अलग करके बिखेर देता है।

अब कुछ ऐसा निखार हमारे अंतर में विकसित हो जाता है कि सजगता द्वारा हम पावन एवं सूक्ष्म ईश्वरीय गतियों के आनन्द का रसपान कर श्रेष्ठ स्तर पर स्थित रहकर, चलते चले जाते हैं। यही सजगता जैसे-जैसे श्रेष्ठ स्तर की होती चलती है वैसे-वैसे हमें लगता है कि चलते-फिरते हुए भी, हर समय, अन्तर में ध्यान में डूबे, हम मानों लक्ष्य से ही योग पाये से रहने लगते हैं। स्थूल से सूक्ष्म होती इस दिव्य सजगता द्वारा हम पाते हैं कि केवल दिनभर ही नहीं, बल्कि रात्रि में सोते हुए भी, हम जागृत अवस्था में रहने लगे हैं। सोने का आभास हमें मिलता ही नहीं। थकान भी कभी आती नहीं। ऐसा लगता है मानों स्थूलता की एक स्थूल सीमा का हम उल्लघंन कर जाते हैं। शारीरिक ज़रूरतें स्वत: ही पूरी होती रहती हैं, हमारे अनजाने में ही। अक्सर मैने बाबूजी को लिखा है कि "मेरे सो जाने पर अगर कोई मेरे कमरे में बात करता है तो मुझे बात भी सुनाई देती है और सोती भी रहती हूं।" यहाँ तक कि मैंने एक बार श्री बाबूजी को लिखा था

कि "रात में मैं सो रही थी। कोई चोर किसी पेड़ पर से कोठी में टार्च से रोशनी डाल रहा था। सोते में ही मुझे लगा कि टार्च की रोशनी पड़ रही है। उठी तो सचमुच टार्च की रोशनी पड़ रही थी।" ऐसे समय सुस्ती से काम नहीं लेना चाहिए। अगर उस समय मैं सुस्ती कर जाती कि न उठें तो थोड़ी देर में सजगता की वह चेतन चमक मन्द पड़ जाती। यह ज़रूर है कि सुस्त हम तब पड़ ही नहीं सकते हैं जबकि हमारी सजगता में कुल मालिक ही समाया रहता है। उसकी प्राणाहुति का योग हमेशा ही प्रविष्ट रहने लगता है। अर्थात् हम सदैव ही उस पावन ईश्वरीय धारा में स्वयं को डूबा-सा पाने लगते हैं।

इस प्रकार परम लक्ष्य प्राप्ति के संकल्प की पूर्ति के लिए सजगता ईश्वरीय वरदान स्वरूप हमें मिलती है। एक बात यहां उल्लेखनीय है कि लोग कदाचित् यह सोचने लगें कि इस दिव्य सजगता द्वारा उन्हें चोर के आने का पता हमेशा लग जायेगा। पर यह सम्भव नहीं होता है क्योंकि जिस स्तर की सजगता होती है उस समय हमें वैसा ही पता देती है। सूक्ष्म एवं दिव्यता प्राप्त करने पर यह निम्नस्तर के अनुभव आगे चलकर नहीं दे पाती है। अगर हम अन्तर में

ऐसी स्थिति नहीं उतार पाते हैं कि हमारे अन्तर का सम्बन्ध सतत् ही मालिक से बना रहे तो हममें सुस्ती भी आ सकती है । परन्तु सतत् ही ध्यान में डूबी ऐसी मन:स्थिति तभी हममें विकसित होती है जबकि ईश्वर-प्राप्ति का हमारा संकल्प दृढ़ होता है । संकल्प से योग पाया हुआ ध्यान, मालिक के दिव्य प्रकाश की छाया में निखरी पवित्रता, हमारे अन्तर में सतत् दिव्यता को विकसित करती चली जाती है । यहां तक कि हमारी वाह्य रहनी में भी अर्थात् बोलचाल में, देखने-सुनने एवं व्यहार में, सदैव ही, ऐसी पावन एवं प्रिय सहजता-सी आने लगती है जिससे कि अनजान लोग भी प्रभावित हुये बिना नही रहते । ऐसा मैंने स्वयं देखा है । अर्थात् दिव्य की प्राप्ति का संकल्प लेने से हमारे अन्दर एक ऐसी शक्ति स्थानान्तरित होने लगती है कि हम भी 'उससे' ऐसे सम्बन्धित से हो जाते हैं कि दूसरों में भी दिव्य चेतना उत्पन्न कर देने की क्षमता हममें समाहित होती जाती है । या यों कहें कि हमारे अन्तर की दिव्य एवं पावन स्थिति की प्रति-छाया हमारे वाह्य में भी फैलना आरम्भ हो जाती है और तब उसका प्रभाव दूसरों को भी जागृति देता है । हम स्वयं को वाह्य के भी हर कार्य में सजग

पाते हैं जबकि वस्तुत: उन कार्यों से हमारे अन्तर का कुछ सम्बन्ध भी नहीं रह पाता है । यह है श्री बाबू जी की प्राणाहुति द्वारा हमारे अन्तर मे विकसित दिव्य सजगता का हमारे वाह्य में प्रभाव। सजगता की गहन स्थिति आने पर हम यह महसूस करते हैं कि हमारे द्वारा स्वत: सब कार्य होते रहते हैं, और हम अछूते से रहने लगते हैं । अब यह सतत् दिव्य चेतना ही तड़प बनकर हमें उनके ध्यान में लय रखती है ।

जीवन में परम लक्ष्य की प्राप्ति का दृढ़ संकल्प लेने से ही ऐसी जागृति अन्तर में पैदा हो सकती है । यह इस लिए कि हमारे सोचने का तरीका ही वैसा हो जाता है जिसका सम्बन्ध लक्ष्य से स्वत: हो रहता है । ऐसा लगता है मानो मालिक ही हमारे द्वारा सब कार्य संचालन करने लगते हैं । यह तो हुआ दिव्य सजगता के वाह्य रूप का निखार । इसे ऐस भी कह सकते हैं कि जब संचालक, अन्तर के मालिक, हमारे जीवन के परम लक्ष्य श्री बाबूजी रहते हैं तो निखरती हुई ईश्वरीय-गतियों के अनुरूप सजगता भी हमें उनसे विरासत में ही मिलती जाती है । इसके द्वारा ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म दिव्य मन:स्थितियों का अनुभव कर,

उनका रसास्वादान कर, हम परम लाभ प्राप्त करते हैं और लक्ष्य प्राप्ति का संकल्प स्वतः ही और दृढ़ होकर शीघ्र लय हो जाने के लिये तड़प पैदा कर देता है। इतना ही नहीं, महत् स्थितियों में लय-अवस्था प्राप्त कर, उनमें समा कर हम पुनः उनकी प्राप्ति के प्रति सावधान रहते हैं। सजगता का अनुभव मैंने किया है कि आगे चलकर ऐसा सतत् हो जाता है कि रात-दिन सोते जागते, एक सी ही हालत मालूम पड़ती है। अन्तर स्वयं सजगता का स्वरूप हो जाता है। सोते में भी यदि कोई दशा बदलती है तो अनुभव के सम्मिश्रण के निवार द्वारा हमें तुरन्त ही उसका पता चल जाता है। अकसर उठकर मैंने अपनी डायरी में उस दशा को नोट कर श्री बाबूजी महाराज को लिखा भी है, जैसे "अब सुस्ती या थकान कभी आती ही नहीं है क्योंकि शरीर रूपी मशीनरी उस दिव्य शक्ति के सचालन द्वारा सचरित रहने लगती है।" पहले तो लगता है कि हम अपने आप में नहीं रहते हैं और बाह्य और अन्तर की किंचित् भिन्नता प्रतीत होती है। फिर लगता है कि पीछे का आधार मिट जाने से हम अपने में कभी लौटते ही नहीं है। तब अंतर और वाह्य हमारे लिए एक सा हो जाता है, अर्थात् मिल

जाता है। इसी हालत को लेकर मुझे श्री बाबूजी ने एक बार लिखा था कि 'तुम्हारी दशा ऐसी है कि अंतर-वाह्य एक समान"। इसे यों कहिये कि हमारा ध्यान हमारे हृदय के बंधन तोड़कर विराट में फैलने लगता है। हम, हममें से निकल कर विराट में मिलना अथवा लय होना शुरू हो जाता है। अब दिव्य चेतना या सजगता भी हमारा बंधन त्यागकर, स्थिति के साथ ही, विराट में फैली मालूम पड़ने लगती है। वह अब स्वत: बदलसी हुई परम गति को ध्यान द्वारा समेट कर मानों हममें प्रवेश देना शुरू कर देती है। यही सजगता हमारे वाह्य कार्यों से इस प्रकार अलग हो जाती है कि वाह्य में हमारे द्वारा क्या हो रहा है? कैसे हो रहा है? इन सबका हमें होश तक नहीं रहता है।

संकल्प जो हमने ईश्वर-प्राप्ति के परम लक्ष्य का लिया था वह भी 'हम' की सीमा के बंधन से निकल कर व्यापक में होने लगता है। हम उसे भी पकड़ पाने में असमर्थ रहते हैं। दिव्य-दृष्टि द्वारा एक दिव्य नज़ारा मैंने यह देखा कि हमारा लिया वह संकल्प उस 'विशिष्ट-संकल्प' (मूल संकल्प) में समाना आरम्भ कर देता है। फलस्वरूप, हमारे लक्ष्य

की ओर बढ़ने की गति एवं दृढ़ता का बांध भी स्वतंत्र होकर, अथाह की रौ में बह चलता है। हमें यह भी ख्याल भूलने लगता है कि हमारा संकल्प क्या था? यह इसलिए कि हमने ध्यान द्वारा उस पावन-धारा में प्रवेश पा लिया है जिसकी उत्पत्ति उस मुख्य एवं विशिष्ट संकल्प द्वारा हुई कि 'एक से अनेक हों'। अतः ध्यान द्वारा अनेक से एक (Ultimate) में पुनः समा जाने के लिए जब श्री बाबू जी की प्राणशक्ति का अवलम्बन मिला तो हम उसी 'मुख्य मूल-धारा' में प्रवेश पा जाते हैं जिसका योग अपने उद्गम से स्वतः ही सीधा होता है। सच तो यह है कि हमारा सच्चा योग इस धारा अथवा दशा में प्रवाह पाते ही अपने अंतिम सत्य से होना प्रारम्भ हो जाता है। वतन तक हमारी खबर पहुंचने लगती है। ऐसा हम अनुभव कर पाते हैं। ऐसी दशा की प्राप्ति पर हमारी साधना सुहागिन होना आरम्भ हो जाती है। तभी अनुभव की दिव्य-दृष्टि ने पाया है कि इस हालत पर आकर वतन की ओर अग्रसर होने की चाह के बजाय हम खुद को रिक्त हुआ पाते हैं। प्रेम, भक्ति, ज्ञान, सभी, इस अपनी सीमा में आकर लय हो जाते हैं। शीघ्र मिलन के लिए तड़प स्वयं ही तड़पती सी लगती है।

मुझे याद है कि मैंने श्री बाबूजी को लिखा था कि 'ऐसी बेकल स्थिति है कि मन करता है कि दिन भर हाय-हाय करके छाती पीटती फिरूं, कारण का कोई पता नहीं है।' इस पर उन्होंने लिखा था कि "जब 'हद' टूटती है तो स्थिति काबू के बाहर हो जाती है। अधिकतर तुम अपने पूजा की कोच के सामने ही बैठी रहो।" तीन दिन वैसे ही बैठ रहने पर लाचार रही। इसका कारण मैंने अब यह पाया कि सर्व प्रथम ईश्वर-प्राप्ति के संकल्प रूपी बीज में बाबू जी की प्राणाहुति रूपी पावन-धारा का सिंचन मिला, उससे सजगता एवं लक्ष्य के प्रति जागरूकता के परिणाम स्वरूप मिलन की तड़प जागृत हुई। फिर उसकी प्राप्ति के लिए अन्तर स्वतः ही रट सी लगाये एक दिन मानों उसमें समाधिस्थ सा रहने लगा।

यही लय अवस्था रूपी वरदान मालिक की ओर से हमें मिलता है। लय-अवस्था की दशा में मैंने यह पाया कि हमारा कुल अन्तर प्रियतम की लयलीनता में, सामीप्यता की सेंक से पिघलने लगता है और उसके स्थान पर दिव्यता भरने लगती है। तभी श्री बाबू जी का यह कथन ज़रूर एक दिन

हममें चरितार्थ होता ही है कि 'मैं लोगों को दिव्य बनाता हूँ। केवल ईश्वरीय झलक या दर्शन मेरी निगाह में इतना महत्वपूर्ण नहीं है।' ऐसी दशा की प्राप्ति पर मेरी कलम ने एक दिन लिखा था कि 'निकले हैं बहुत आजादी से हम असल-तत्व के पाने को, जब तत्व में तत्व मिलाय दिया साक्षी बन साथ दिया न दिया'। जब प्राणाहुति ही प्राण बनकर हममें बहने लगती है तब उस विशिष्ट-संकल्प से अलग हुआ हमारा लघु-संकल्प उसी में मिलने लगता है। वास्तविकता भी समक्ष विस्तृत होकर अब समाप्त होने लगती है। श्री बाबू जी का कथन प्रत्यक्ष हो उठता है कि 'वास्तविकता की इतिश्री होती है।' संकल्प भी हममें सिमटा न रह कर व्यापक होने लगता है। अब हमें आगे बढ़ने के लिए भक्ति या प्रेम के सहारे का सिंचन भी बेअसर लगने लगता है। धीरे-धीरे सभी कुछ लय होता जाता है। रह जाता है केवल लघु-संकल्प का विशिष्ट संकल्प से मिलन।

अब ऐसा हो जाता है कि हम जितना ही धारा में पड़ते जाते हैं दिव्यता का सागर उतना ही उथला मालूम पड़ता जाता है। लय-अवस्था भी लय (फ़नाये-

फ़ना) होने लगती है । प्रियतम से मिलने की प्यास इस हद तक बढ़ जाती है कि प्रियतम को ही भूलने लगती है । कोई जब याद दिलाता है तो थोड़ी देर ख्याल आकर मानों पुनः वहीं पहुँच जाते हैं । चारों ओर से केवल एक ही ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है कि 'और लाओ, और लाओ ।' स्वप्न में तड़प चैन नहीं लेने देती, प्यास कभी बुझती ही नहीं । जागृति में ऐसा प्रतीत होता है कि उठे-बैठे चैन नहीं । कबीर की वाणी का यह भी पता मिल जाता है कि 'बैठे, सूते पड़े उतान, जब देखें हम वही ठिकान ।' मुझे याद है कि एक बार मेरे लिखने पर श्री बाबू जी ने मुझे लिखा था कि "अभ्यासी की तारीफ़ यही है कि हज़ारो सागर ईश्वरीय-ज्ञान अर्थात् 'मारिफत' के पी जायें लेकिन मुख से यही निकले कि 'और लाओ, और लाओ ।' अचम्भे की बात यह लगती है कि 'और लाओ' की अवाज़ हमारे इस मुख से जो कि हमारे शरीर से जुड़ा है निकली हुई नहीं मालूम पड़ती है । किसी विराट हृदय की विराट पुकार ही मानों चारों ओर से 'और लाओ, और लाओ' की ध्वनि हमारे अन्तर में भरती रहती है । अन्तर में इस प्रकार का भराव सद्गुरु श्री बाबू

जी के साथ ईश्वर के सूक्ष्म (विराट) में फैलने का प्रतीक होता है। ऐसा लगता है कि जिसका ध्यान था वह ध्यान भी एक दिन सर्वव्यापक रूप में विस्तृत हो जाता है। आखें बन्द करते ही जी ऐसा घबरा जाता है मानों हम अपने अन्दर ही कैद हो गये हों। आगे हम अपने को श्री बाबू जी में इस तरह घुला या मिला हुआ पाने लगते हैं कि जैसे गुड़ और शीरा।

ऐसी स्थिति में हममें वह सुध ही नहीं रह जाती है कि उनकी दी हुई उस दिव्य-चेतना (सजगता) को भी हम सहेज सकें। तब फिर? हालत ही प्रत्यक्ष होकर मानों स्वयं हमें बताती है कि यह हालत है। हम तो हालत के लिये भी केवल साक्षी मात्र बने रह जाते हैं। उसके आनन्द अथवा अनुभव को भी हम उठा सकें ऐसा नहीं हो पाता है। हम इतना भी शेष नहीं रह जाते कि देख सकें कि हमारा हम, व्यापक हुए मालिक में एक वहम के बिन्दु सा ही रह जाता है। जब कभी वहम के इस विन्दु में हमारा क्षणिक भी कुछ सिमटाव हो जाता है तभी हम हालत के साक्षी भी हो पाते हैं अन्यथा नहीं। उन साक्ष्य के क्षणों में कदाचित् उसका कुछ भोग या आनन्द हममें अवश्य जुड़ जाता है। परन्तु ऐसा कहना भी कदा-

चित् उचित नहीं लगता क्योंकि तब मैंने श्री बाबू जी को लिखा था कि 'मैं अपनी दशा आपको नहीं लिखती हूँ, बल्कि दशा की दशा ही बयान करती हूँ।' हम लिखते ज़रूर हैं लेकिन हमें वहम सा ही प्रतीत होता है कि दशा है या वहम, लेकिन कलम दशा करके ही लिखती है। इसलिए हम पढ़ते भी दशा के रूप में ही हैं। जब हम वहम मात्र ही रह गये तो फिर उस सीमा तक ही हम उसके आनन्द और भोग का अन्दाज़ भी उठा पाते हैं। कभी-कभी यह वहम पसन्द न आता था। जाने क्यों ऐसा लगता था कि व्यापक-उज्जवल-रूप में यह हल्का निशान क्यों है? तो उत्तर यही था कि वही उस 'दर्द' का पता देता है है जिसके लिए श्री बाबू जी महाराज ने लिखा था कि 'हालत यह है कि दर्द उठ-उठ के बताता है ठिकाना दिल का।'

कुछ और आगे पैराव हुआ तो वहम भी भूलना शुरू हो गया। इसलिये मैंने लिखा कि "वहम का भी वहम रहता है कि नहीं?" इसका पता नहीं मिलता कि कहां है? और किसमें है? वहां मैंने देखा कि अभी मालिक परम सूक्ष्म एवं सर्वत्यागी-रूप में पूरी तरह से लय करने के लिए हमारी तड़प के इस बिन्दु

को खुद में या हमारे व्यापक हुए स्वरूप में कहीं सजग रखते हैं। लेकिन कहां ? इसका पता नहीं है। जब वतन को भी जो प्रियतम से हमारे अलगाव की कुछ खबर दिलाता था, व्यापक-दिव्यता अपने में मिलाने लगती है तब मैंने देखा कि समस्त में एक अचम्भा ही अचम्भा व्याप्त मिलता है। जो शक्ति आदि रचना के लिए ऊपर से प्रवाहित हुई थी उस अवस्था का ही जब मालिक (श्री बाबू जी) ने दर्शन कराया कि कैसी शक्ति उसमें थी तो देखकर हम चकित से अचम्भे में खड़े रह जाते हैं। इसलिए ऐसी महत् लय अवस्था की स्थिति पर पहुंचने पर समक्ष में व्यापक उसकी विशालता (Splendour) को जब भी हम दृष्टि में भरने की कोशिश करते हैं तो अचम्भे में ही हमारी दृष्टि फैली रह जाती है। बिना गति के चलते हुए, बिना ध्वनि के सुनते हुए, बिना दृष्टि के देखते हुए, अनुभव से अछूता, अनन्त-चेतना द्वारा लेखन में आने वाली, 'अनन्त यात्रा' का यह दृष्य, जिन श्री बाबूजी ने मुझ अति अकिंचन को अपनी ही दिव्यता से सजाकर, अपनी ही दिव्य-दृष्टि द्वारा दिखाया है, उन्हीं को यह समर्पित है—मेरे पास सहेज कर रखने को अब ठौर ही कहां है ? आगे भी अपनी कृपा से जो दिखायेंगे उसे

भी लिखकर उन्हें ही समर्पित करने की चाह एवं साहस अपनी कृपा से वे ही देंगे।

अब क्या है ? पूरा पसारा खुली किताब की तरह सामने है। बिना भाषा के, बिना अर्थ के, कोई 'असलियत' सामने बिखरी हुई है। लेकिन, अपने में भर सकूं इतना अब होश कहां है ? विचार कहां है ? इसके लिए अब यही कहा जा सकता है कि मोती सामने बिखरे पड़े हैं लेकिन दामन का होश नहीं जो बटोर लूं। यह श्री बाबू जी की ही कृपा है कि यहां तक किस प्रकार लाये और कहां अब आगे 'अनन्त' की ओर लिए जा रहे हैं। जो हो चुका है और जो समक्ष है, और जो होगा, सब उनकी ही महत्ता थी, है, और होगी। वे सामने हैं तो दामन की जरूरत ही नहीं है। वे साथ हैं तो अनुभव को कहां रक्खा जा सकता है ? उनमें एकत्व जिस सीमा तक भी है उससे सजगता का अब काम ही समाप्त हो चुका होता है। उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। फिर आवश्यकताएं ही जब आध्यात्मिक-क्षेत्र के लिए भी समाप्त हो गयीं तो सजगता का भला काम ही क्या रह जाता है ? आवश्यकता इसलिए समाप्त हो जाती है कि हमारे द्वारा अपनाये गये संकल्प का कार्य अब

पूर्ण हो जाता है। कौन समझेगा मेरा यह हाल, जो बेहाल है? बेहाल हुए अभ्यासी ही इसे परख पायेंगे। जो इसे परख पायेंगे वे खुद ही बेहाल हो जायेंगे। तब हाल हाल ही नहीं रह जायेगा।

"धन्य धन्य सृष्टि का वह क्षण बाबू जी अवतरण तुम्हारा, बलिहारी 'संध्या' तव मुख छवि, नैनों में भर भर जाती है।"

———

अहम्

समस्त आध्यात्मिक-गतियों का प्रसार 'अहम्' की दो हालतों के ही अन्तर्गत विस्तृत मिलता है। पहला है स्थूल चेतना (Body Consciousness)। इसके जाने पर संसार फीका नज़र आता है। दूसरा है आत्मिक-चेतना (Soul Consciousness)। इसके आने पर अभ्यासी अथाह में खो जाता है। अहम् की इन दो गतियों के अन्तर्गत न जाने कितनी आध्यात्मिक-गतियों का विस्तार है। उनके विषय में, अनुभूति के आधार पर, कुछ तो कहा जा सकता है और कुछ नहीं भी कहा जा सकता है। वास्तव में, अहम् के अर्थ 'मैं हूँ' के लगाए जाते हैं। यह अहम् का अन्धेरा पहलू है। इसका उजेला पहलू मैंने यही पाया है कि दूसरे के एहसास का वज़न भी अपने हृदय को या हालत को न छूने पाए। अर्थात् जब किसी के आने जाने या होने न होने का विचार एक सा ही मालूम पड़ने लगे तब समझना चाहिए कि हम अहम् के अन्धेरे और उजेले, दोनों पहलुओं से, मुक्त हो गये, या परे पहुंच गये हैं। जब ईश्वरीय-ध्यान में डुबोये रखने के

अभ्यास में हमारा 'मैं' अपना रंग छोड़ते-छोड़ते एक दिन वही दिव्य रंग ले लेता है तब 'मैं' कहते हुए यह बोध नहीं रहता है कि यह किसके लिए कहा जा रहा है। तभी अहम् के स्थूल बंधन से हमें छुटकारा मिल गया समझना चाहिए।

श्रेष्ठ जीवन-लक्ष्य को हृदयंगम करने पर स्वतः ही हमारे अन्तर में उस श्रेष्ठ के प्रति एक निर्भरता सी, हमारे जाने और अनजाने, दोनों में ही, पलने लगती है। यही निर्भरता आगे चल कर स्वतः आत्म-निवेदन का रूप ले लेती है। एक दिन जब हमारे आत्म-निवेदन को वह (ईश्वर) स्वीकार कर लेता है तभी हमारी स्थूल चेतना के जाने का अवसर आ जाता है। फिर दिव्य में ही लय रहने के अभ्यास से एक दिन ऐसा भी आता है कि 'हम' का प्रयोग करने को करते रहते हैं लेकिन हमें अपने अन्दर इससे सम्बन्ध होने का आभास भी नहीं मिल पाता है। अर्थात् आत्मा की परमात्मा में लय होने की बारी आ जाती है। तब समस्त ही मानों एक सा मालूम होने लगता है। तभी आत्म-चेतना (Soul Consciousness) आने का शुभ सन्देश बाबू जी हमें प्रदान करते हैं।

मैंने ऊपर लिखा है कि श्रेष्ठ जीवन-लक्ष्य

अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार को हृदयंगम करने पर स्वतः ही हमारे अन्तर में उस श्रेष्ठ के प्रति भक्ति सी भर उठती है और आगे चलकर एक निर्भरता सी, हमारे जाने या अनजाने, दोनों में ही, पलने लगती है। यह आत्मनिर्भता ही आगे जलकर स्वतः आत्म-निवेदन की दशा का रूप ले लेती है। ऐसी दशा के पैदा होने पर अहम् के स्थूल आवरण का गलना भी शुरू हो जाता है। यही निर्भरता 'प्रिय' में योग देने के लिए अचूक बैठती है। हमारी विचारधारा उलट जाती है। संसार हमारा है, का स्थान 'वह' हमारा है ले लेता है प्रथम यह विचार धारा वाह्य से सम्बन्धित होती है। जहां भी दृष्टि जाती है विचार, उसके सम्बन्ध को लक्ष्य से ही जोड़ने लगते हैं। अर्थात्, हर जगह, हर चीज़ में, हर अच्छाई में, विचार हमारी दृष्टि में ईश्वर को भर लेने की चाह करने लगते हैं। एक दिन ऐसा आता है कि दृष्टि में 'वह' सचमुच भर ही जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि संसार फीका दिखाई पड़ने लगता है। अर्थात् वाह्य-वृत्तियां पहले विचार-धारा द्वारा, वाह्य के आकर्षणों में रंगी हुई थी। अब, जब विचार ने दृष्टि में ईश्वर को भरना शुरू कर दिया तो उसकी बनाई हुई रचना उसके

सौन्दर्य के आगे फीकी लगने लगी । एक दिन दृष्टि में संसार (matter) का नक्शा ही मिट जाता है । फिर दृष्टि एवं वृत्तियों का यह हाल हो जाता है कि वे लक्ष्य में इस तरह डूबी रहने लगती हैं कि किसी कवि का यह कथन हमारे समक्ष दशा के रूप में चरितार्थ हो जाता है कि—

"वेगि ही बूड़ि गई पंखियां, अंखियां मधु की मखियां भई मेरी" ।

इस डूबने का प्रभाव अन्तर में पड़ने लगता है । हमें ऐसा लगने लगता है कि उनके समक्ष अन्तर में हम पसीजन से झुके हुए हैं । अर्थात, हमारे कुल अहम् ने उन्हें स्वीकार कर मानों स्वयं को उनके पावन चरणों में समर्पण कर दिया है । अब जिन्हें हम वाह्य-चक्षुओं में समेटे बावरी दशा में घूमते थे, न जाने कब, धीरे से, चक्षुओं के द्वार से, अन्तर में प्रवेश पा जाते हैं । प्रेम का यह कैसा प्राकृतिक विधान है कि जब हृदय ने पूर्णतया उन्हें स्वीकार कर लिया, प्रेमाश्रुओं ने हृदयासन को पखारा, और श्री बाबू जी की प्राणाहुति ने संवारा, तभी लय की डोरी से खिच कर हृदय में वे आसीन हुए । अब हर समय हमें उनकी उपस्थिति का आभास अन्तर में

मिलने लगता है । हमें ऐस लगता है कि कुल अन्तर ही मानों श्रद्धा के रूप में नतमस्तक हुआ पिघलता जा रहा है । अब हममें मानों अपने 'प्रियतम' का स्वाभविक लगाव पैदा हो गया है, जो आगे रंग लाता है, हमें बेरंग बना देने के लिए । यही ईश्वर में लय-अवस्था का प्रथम चरण है । इस हालत की प्राप्ति पर हमारी विचारधारा अहम् के स्थूल दबाव से स्वतंत्र होकर सूक्ष्म में (अर्थात् ईश्वर में) प्रवेश या बहाव पाने लगती है । अन्तर का आवरण, इस अतिशय आन्तरिक- अपनत्व में, पग पग पर अपना रंग (भौतिक) समाप्त करने लगता है । जब हमारा यह आन्तरिक आत्म-निवेदन 'मालिक' में इस हद तक बढ़ जाता है कि अन्तर अपनी अलग रहनी (अर्थात् लक्ष्य मिली जुली) बना लेता है, तब यह लय-अवस्था में परिवर्तित हो जाती है । लय-अवस्था पैदा होना बहुत मुश्किल है । लेकिन, किन्हीं महत् सद्‌गुरु में अन्तर की निर्भरता रहना वह गुर है जिससे एक दिन स्वतः ही हमारा अंतर लय रहना सीख ही लेता है ।

दूसरी एक ख़ासियत जिसे कहे बगैर मैं नहीं रह सकती हूं यह है कि अगर आध्यात्मिक-मार्ग का

शिक्षक हमें ऐसा मिल जाता है जो लय-अवस्था का स्वरूप ही हो गया हो तो उसमें निर्भरता रखते रखते पहले आत्मनिवेदन या तल्लीनता, और फिर लय-अवस्था का अन्दाज़, अंतर स्वतः हो मानों नकल में उतार लेता है। इसका प्रमाण यह है कि जो ईश्वरीय-धारा सतत् और समान रूप से समस्त में वह रही है, उसकी प्राप्ति का पूर्ण लाभ हम अभी नहीं उठा पाते हैं। जब कोई ऐसा समर्थ शिक्षक हमें मिल जाता है जिसने ईश्वर में पूर्ण लय-अवस्था प्राप्त करके परिपक्व दशा की प्राप्ति के बाद दक्षता या स्वामित्व भी प्राप्त कर लिया हो, तो फिर उसकी प्राणाहुति की प्राप्ति हमारे हृदय में उसकी ही रहनी (लय-अवस्था) और कुछ-न-कुछ दक्षता का गुर भी हमारी अन्तर्दशा में स्वतः ही प्रवेश देकर निखारना शुरू कर देता है। उनमें लय-अवस्था पाना हमारे अन्तर को यह सिखा देती है कि हम किस प्रकार अपने वाह्य कर्त्तव्य पूरा करते हुए भी दिव्य में फ़ना (लय) रह सकते हैं। फ़ना या लय-अवस्था की गहराई में पैरने पर हमारे अन्दर सूक्ष्म-अहम् का भी गलाव शुरू हो जाता है।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि स्वतः आत्म-निवेदन

क्या चीज़ है ? मैं तो यह कहूँगी कि जब आत्मिक उद्धार के लिए हम किसी समर्थ-सद्‌गुरु का दामन वास्तव में थाम लेते हैं तो हमारे अनजाने ही उनमें हमारी निर्भरता की हालत रहने लगती है। इस स्थिति में हमें एक प्रकार का जो सुख और निर्द्वन्द्वता मिलती है वही हमें अपने मालिक का सतत्‌स्मरण रखने को मजबूर करती रहती है। उस सुख की अनुभूति कुछ ऐसी होती है जिसके साथ उसका स्मरण जुड़ा ही रहता है। वास्तव में, आत्म निवेदन सतत्-स्मरण का सुन्दर एवं सुखदायी फल होता है। स्मरण द्वारा सदैव हमें 'उनका' आवाहन मिलता है। इसलिए स्मरण को मिलन की एक कड़ी कहना अनुचित न होगा। स्मरण, अन्तर के प्यार का अंधापन है जिसमें हमें इसका अन्दाज भी नहीं रहता कि हम प्रेम क्यों करते हैं ? लेकिन फिर धीरे, धीरे, उसके स्मरण में प्राप्त परमानन्द द्वारा स्वतः ही एक प्रकार की विभोर-अवस्था अन्तर में उत्पन्न होने लगती है। इस विभोर अवस्था का प्रतिफल भी हमें तुरन्त ही अन्तर में मिलने लगता है। वह यह कि हमें केवल और केवल एक मात्र 'उसके' दर्शन एवं उसके मिलन की चाह रहने लगती है। इस दशा का सबसे बड़ा लाभ

हमें यह होता है कि सतत् स्मरण में विभोर हुए विचार द्वारा जो सामान (संस्कार) हमारे हृदयांतर में अब तक जुटा हुआ था वह तितर बितर होकर साफ़ होने लगता है, और, ईश्वरत्व का फैलाव होना शुरू हो जाता है । हमारी विचार-धारा, बुद्धि एवं रहनी में से संकुचित पन दूर होने लगता है। अन्तर, बाहर, में हम एक पवित्र फैलाव का अनुभव करने लगते हैं। ऐसी ही प्यार भरी चाह आगे चलकर जैसे-जैसे हमारे अन्तर में पनपने लगती है वैसे ही अन्तर में एक प्रकार का खालीपन उत्पन्न हो जाता है। उस खालीपन को केवल 'उससे' ही भर लेने की तड़प स्वत: ही अन्तर को संवारने लगती है। बस यही विभोर-अवस्था पूर्ण आत्मनिवेदन में बदल जाती है। ऐसी विभोर-अवस्था में डूबने पर प्रियतम की झलक बार-बार हमारे अन्तर में उतरने लगती है। उसे हम 'ईश्वरीय-प्रकाश हमारे कुल अन्तर में व्याप्त है' मात्र कहकर हवाला दे पाते हैं। 'उनकी' पावन-झलक और 'उनकी' सामीप्यता का सेंक हमारे अन्तर की स्थूलता को पिघलाना शुरू कर देती है। बाबू जी ने मुझे कितना ठीक ही लिखा था कि 'आत्मनिवेदन लय-अवस्था की जान है।' पूर्ण आत्मनिवेदन अन्तर

में तब उत्पन्न हुआ समझना चाहिये जब हृदय में कोमलता एवं सरलता के रूप में समस्त के प्रति विशुद्ध कलक पैदा हो जाती है। अन्तर में कोमलता अथवा विनीतता की स्थिति रहना आत्मनिवेदन का प्राण है। इस स्थिति के उत्पन्न हो जाने का प्रतीक वही हृदय का खालीपन होना है।

सतत्-स्मरण का एक सुन्दर परिणाम मैंने यह भी पाया है कि सतत् स्मरण रूपी सामीप्यता का सेंक हमारे अचेतन-मन में पहुंचना शुरू हो जाता है। तभी हमारे अन्दर ईश्वर-मिलन की सच्ची तड़प जाग उठती है क्योंकि हमारे अवचेतन का योग दिव्य से ही होना है और उसके पूर्णतया पूर्ण हो जाने पर भक्ति, या तल्लीनता, कुछ भी कह लें, हममें स्वतः ही रहना शुरू कर देती है। हमें इसके लिए अभ्यास नहीं करना पड़ता है

उपर्युक्त कथन से श्री बाबू जी महाराज का यह कथन प्रत्यक्ष हो उठता है कि 'अचेतन मन में उत्सुकता रहती है।' इसलिए जब ईश्वर के सतत्-स्मरण का मधुर सेंक उसमें पहुंचने लगता है तब वही उत्सुकता लक्ष्य-प्राप्ति से योग पाने की ओर उन्मुख हो जाती है। जब भी हमें ध्यान आता है तो हमें

लगता है कि मानों एक कड़ी सी ऊपर जुड़ी हुई है। अब सतत् स्मरण हमारा पूर्ण हो जाता है। उनकी परम्-पावन प्राणशक्ति विस्तृत विशुद्ध चेतना शक्ति के साथ ही साथ इस उत्सुक्ता को भी हमारे अन्तर में थपथपा कर जागृति देने में सहायक होती है। लेकिन, मैं यह ज़रूर कहूंगी कि अचेतन मन में स्थित यह उत्सुकता केवल ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य लेने और उसके सतत्-स्मरण से ही जागती है, अन्यथा नहीं। जब लय-अवस्था हमारे अन्तर में उत्पन्न हो जाती है तभी से सँस्कार बनना बंद हो जाता है। तब हम काम करते हुए भी अपनी हालत में लय या फ़ना रहते हैं, शरीर में नहीं रहते। यह दशा तो हम प्राणियों की छोटी सी उन्नति पाने पर ही होने लगती है। लेकिन यही हालत बहुत कुछ अवतार के सम्बंध में भी चरितार्थ होती है। किसी ने जब बाबू जी से पूछा कि अवतार के मन होता है या नहीं ? तो उनका उत्तर था कि 'अवतार के मन तो होता है लेकिन उनका मन एक विशेष स्तर की फ़ना-हियत लिये हुए होता है। इसलिये संसार में कार्यरत रहते हुए भी संस्कार उन तक नही पहुंचते हैं।' इस लिये मैने देखा कि सांस्कारों के

बन्धन से परे अहम्ता के स्थूल बन्धन से छूटने की घड़ी तो मालिक जल्दी ही ला देते हैं। लेकिन, अहम्ता के सूक्ष्म बन्धन का फैलाव कहां तक है? किस स्थिति तक हम उसे पाते हैं? इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहूंगी कि 'मैं' कहते हुये यह एहसास ही नहीं होता है कि 'मैं' का प्रयोग किसके लिये किया जा रहा है। यही हालत स्थूल अहम् के बन्धन से छूटने की स्थूल-परिभाषा है।

मैं ऊपर लिख चुकी हूं कि वैसी अन्तर दशा की प्राप्ति पर ही स्थूल चेतना का अभाव हो जाता है। अब सूक्ष्मता की ओर बढ़े तो वही हाल दूसरों के लिए, समस्त जड़-चेतन के लिये भी पाने लगते हैं। हम किसी को भी छुएं—दीवार, पेड़, या खाना बनाते समय बर्तन इत्यादि, लेकिन हमारी वास्तविक स्थिति ऐसी हो जाती है कि हम किसी को छू ही नहीं पाते हैं। समस्त वाह्य के स्पर्श से परे हमारी स्थिति हो रहती है। यही 'निर्वाण' की स्थिति कही गई है। वह भी इसलिये कि जब हमारे सामने लक्ष्य के अतिरिक्त कोई कुछ होता ही नहीं है तो स्पर्श किसका हो? जिस हद तक हमारी लय-अवस्था होती जाती है वहीं हमारी रहनी का स्थान बनता

जाता है और नीचे का आधार मिटता जाता है। मैंने पाया है कि जब कोई आवाजें देता था तो आवाज़ की खटक शरीर को नहीं खटकती थी--बल्कि जहां तक भी हमारी पहुंच होती है, हमको हमारी खबर वहां ही पहुंचती है, और वह भी बड़ी सूक्ष्मता के साथ। लगता है जीवन-रूपी तार जो शरीर से जुड़ा है, या जो प्राण इस शरीर की सीमा में बह रहा है उसे जब इस शरीर रूपी घर में अनुभव करते हैं, तो शरीर में मालूम पड़ता था, और, जब इसकी सीमा तोड़ कर हमारी गति इससे परे ईश्वरीय होने लगी तो हम महत् प्राण में फैलना शुरू कर देते हैं। तब वही हम को हमारी खटक पहुंचाती है। लेकिन अहम् की इस सूक्ष्म स्थिति का फैलाव एवं आत्मिक चेतना के स्थिति का विस्तार, कहां तक है? और किस स्थिति तक हम पाते हैं? इसके विषय में इतना मैं कह सकती हूं कि आगे ईश्वरीय-गति में और फैलने पर, धीरे धीरे, मैंने ऐसा पाया कि आवाज़ लगाने पर भी, हम सिमट कर स्वयं में नहीं आ पाते हैं बल्कि वहीं से, उसी स्थिति से, स्वतः ही कुछ निर्देशन होता रहता है। यद्यपि हम उस निर्देशन के ज्ञान से भी परे एवं

अनभिज्ञ ही रहने लगते हैं।

पर, अब जब भी मैं पहली वाली हालत को समक्ष में लाकर देखती हूं तो सोचती हूं कि तब ऐसा क्यों होता था ? तो यह पाती हूं कि एक स्तर में लय होते अहम् के पर्त दर पर्त आवरण दर आवरण, को पार करते हुए, आत्मा से भी परे, हम उसी दिव्य स्थिति के अनुसार सूक्ष्म या ईश्वरीय हालत में फैलने लगते हैं। जब लय-अवस्था में एक स्तर की दशा में हम समा जाते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि वही दशा हमारा स्वरूप हो गयी है। अर्थात् उतने स्तर में हम फैल कर उस दिव्य-स्थिति में लय हो चुके हैं। इससे पता चलता है कि वह हालत कुल हमारी हो चुकी है और फिर उसमें भी भिदाव (लय) होना शुरू हो जाता है। जब भिदाव उस हालत की पूर्ण-अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो हमें लगता है कि अब हम फिर से बिलकुल खाली रह गये हैं। इस स्तर पर अब तड़प ही मानो हमारा स्वरूप बन कर हमारे सामने बिखर जाती है। इससे हमारे अन्दर, और गहन-स्तर का खालीपन पुनः पैदा हो जाता है जिसके द्वारा अति सूक्ष्म दशा अर्थात् आत्मा में हम लय होने लगते हैं। यही उसकी हमारे लिए

विशेष कृपा रहती है कि ईश्वरीय सूक्ष्म गति की जितनी लय अवस्था हमारे समक्ष लय होने के लिये आती रहती है उसी हिसाब से, उसी स्तर का खालीपन, हमारे अन्तर में पैदा होता जाता है, और हम ईश्वर के सूक्ष्म में फैलाव पाते चले जाते हैं। लय-अवस्था की एक सीमा तक लय होकर मैंने पाया है कि आत्मिक चेतना भी समाप्त होनी शुरू हो जाती है। अर्थात् अब हमारा व्यक्तित्त्व एक व्यक्ति में सीमित न रह कर, समस्त में व्याप्त होने लगता है। धीरे धीरे अहम् लय होकर तड़प के बिन्दु रूप में, अथवा साक्षी रूप में अब हमारे साथ रहने लगता है। इस दशा की प्राप्ति पर श्री बाबू जी का कथन हममें चरितार्थ हो जाता है कि 'अब हममें न स्थूल चेतनता है और न आत्मिक चेतनता का ही पता मिलता है। इसका प्रमाण भी हमें अन्तर की इस दशा से मिलता है कि हम स्वयं लिखते है कि 'दर्द उठ उठ के बताता है ठिकाना दिल का।'

प्रियतम प्रिय सद्गुरु की कृपा से जब लय अवस्था की भी सूक्ष्म-अवस्था के बहाव में हम प्रवेश पा जाते हैं तो एक लाभ हमें यह मिलने लगता है कि तड़प भी ऐसी सूक्ष्म हो जाती है कि वह अलग

अंदाज़ में नहीं आती है। बल्कि हमारे समक्ष विस्तृत सूक्ष्म हालत मे फैलकर समा जाती है। जब सूक्ष्म ईश्वरीय-गति में भी हमारा फैलाव अथवा समाव उस ईश्वरीय-स्तर तक हो जाता है तब तड़प का भी रूप ऐसा सूक्ष्म हो जाता है कि हमें इसके होने या न होने का पता भी नहीं मिलता, और चैन भी नहीं पड़ता है। लगता है कहीं बेचैनी खुद ही बेचैन है। अब आत्मा का परमात्मा में मिलाप होना शुरू हो जाता है। दूसरा कहने के लिए कुछ नहीं रहता है। चाहे मार्ग कह लीजिये, चाहे सद्‌गुरु कह लीजिए, चाहे ईश्वर कह लीजिए, कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसी दशा में आकर कबीर का यह कथन हममें सिद्ध हो जाता है कि 'चेला के गुरू लागे पांय' क्योंकि पहले पूत अर्थात् ईश्वर का मिलन हो गया तो सद्‌गुरु की खुशी का पार नहीं मिलता है। वह बालक पर बलिहार जाता है। अब श्री बाबूजी महराज हमारी गति कबीर के शब्दों में 'पहले पूत पीछे भई मांय' की ओर उन्मुख कर देते हैं अर्थात् 'मुख्य केन्द्र' जिससे रचना बनने का संकल्प, ईश्वरीय-शक्ति रूप में अलग हुआ, 'उसी' अर्थात् अन्त (Ultimate) की ओर ले चलते हैं।

प्रियतम के सतत्-स्मरण स्वरूप उनमें लय अवस्था प्राप्त करने पर जब आत्मा को ओढ़े हमारे आवरण एवं जमाई हुई स्थूलता बाहर निकलती जाती है तब से ही हम अपने को ईश्वरमय ही पाने लगते हैं। हमारा 'हम' हममें से पिघलकर समाप्त होने लगता है, और 'वह फैलता जाता है। किन्तु, इसकी पूर्ण हालत पर पहुंचने पर तड़प का वह बिन्दु, अनजानी बेचैनी सी, हम में कहां पलती है इसे कह पाना अत्यन्त कठिन है। हम अपने को ईश्वरमय अनुभव करते हैं। इसका अर्थ है कि हमारे अहम् की सीमा के सूक्ष्म और स्थूल रूप दोनों ही टूट गये हैं, और हमारा हम उस महत् 'स्व' में मिलने लगा है। धीरे धीरे, उस महत्-ईश्वरीय 'स्व' अथवा विराट् में भी हमारी लय-अवस्था शुरू हो जाती है। एक दिन जब उस महत् में भी हमारा फैलाव और लयावस्था पूर्णरूपेण होने लगती है तो ऐसा महसूस होता है कि उस विराट् में अर्थात् 'मूल' के क्षेत्र में हम उतर गये हैं। इसमें पैरने पर हम अनुभव करते हैं कि हमारी जगह कुल दिव्यता ही मौजूद हो गयी है। इसी से इस स्थिति में प्रवेश पाने पर हम स्वयं का गतिशील अनुभव करने लगते

हैं। हमारी वाणी में' हमारे कार्यों में, हमारी रहनी में, दूसरे लोग भी. हमें गतिशील ही पाने लगते हैं।

एक दिन हम अनुभव की असीमित दृष्टि में उसे ही भरा हुआ पाने लगते हैं। इसका अर्थ मैंने यह पाया है कि अब हमारे अहम् के 'अ' से और 'ह' तक की दशा दिव्य में मिलकर व्याप्त हो चुकी होती है। अर्थात्, 'अ' से 'ह' तक हम कुल 'मालिक' में मिलकर अहम् के परे पहुंच गये हैं। अब सामने रह जाता है केवल मात्र मध्य का तड़प बिन्दु (ं)। इसे कुछ भी कह लें, बिन्दु में सिंधु का समाना एवं सिंधु में बिंदु का समाना। अब तो दोनों ही हालतें समान लगती हैं। अर्थात्, अब मध्यस्थ का कर्त्ता रह गया है केवल मात्र 'बिन्दु'। बिन्दु का कोई मूल्य नहीं होता है। न यह कुछ कमाता है, न गंवाता है, अर्थात्, पाने और खोने का एहसास समाप्त हो जाता है। एक समान, एक सतत्-दशा सी, कभी होश में (होने के रूप में), कभी बेहोश (न होने के रूप में) लगती है। कबीर के कथन 'एक बिन्दु का सकल पसारा' का अर्थ अब मेरे सामने है कि 'अ' अर्थात् नहीं है से, 'ह' अर्थात् 'है'

को जोड़ने और अलग अर्थात् परे उठाने की शक्ति, इस बिन्दु मात्र की ही शक्ति है। अर्थात् इसके ही पसारे की है। केवल मात्र श्री बाबूजी की कृपा एवं शक्ति द्वारा जब इस बिन्दु के पसारे में मिलते हुए अथवा शक्ति को पीते हुए हम आगे पैराव पाते जाते हैं तो बिन्दु भी धुंधला होता जाता है। एक दिन हम अपने को कुल अहम् के इस बिन्दु से अछूता पाने लगते हैं। तभी हमें लगता है कि अहम् के परे पहुंचने की बारी हमारे प्रियतम श्री बाबूजी ले आये हैं। ऐसी कृपा है कि उन्हें यह भी गवारा कहां कि हमें बिन्दु के पसारे के अन्तर्गत भी देख सकें। वह तो स्वतंत्रता से भी परे मुक्त, स्वच्छंदावस्था अर्थात् अंत (Ultimate) की सीमा में प्रवेश देना चाहते हैं। अर्थात्, स्वामित्व को अवस्था में हमें पहुँचाना चाहते हैं। "भक्ति में याचना न होती तो, भक्त भगवान बन गया होता" आज हमारे समक्ष प्रत्यक्ष हो जाता है। अर्थात्, अब याचना समाप्त हो जाती है। या यों कहें, जैसा मैंने श्री बाबूजी को लिखा था कि लगता है कि मैं प्राप्तकर्त्ता नहीं हूं निर्माणकर्त्ता हूँ। अब श्री बाबूजी का वह कथन कि 'अ' अर्थात् 'नहीं हैं' को 'है' मान कर चलने की हालत हमारे सामने

प्रत्यक्ष हो जाती है।" इसकी प्रत्यक्षता में मैं ऐसा कह सकती हूं कि 'अ' की हालत का अर्थ 'नहीं है' और 'ह' की हालत का अर्थ 'है' की दशा है। तो 'नहीं है' को अब 'है' मानकर ही आगे 'मूल' अर्थात् दिव्यता में प्रवेश कर पाते हैं। इस हालत में यदि हालत के लिए या उसकी प्रत्यक्षता के लिए हम 'अ' अर्थात् 'नहीं है' कहते हैं तो यह पता नहीं मिलता कि किसके लिये यह शब्द 'नहीं है' प्रयुक्त हुआ है। और 'ह' कहते हैं तो सफ़ाचट मैदान ही है, अर्थात् कुछ है नहीं का पता लगता है। लेकिन, फिर कहा भी क्या जा सकता है? जो हमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म का अन्दाज़ दे रहा है, वह है केवल मात्र 'अ, और 'ह' को योग देने वाला वही विन्दु यानी 'एक बिन्दु कर सकल पसारा।' उसके लिये 'है' कहना इसलिए व्यर्थ है कि बिन्दु का भला मूल्य भी क्या होता है? कुछ नहीं ,और नहीं है' इसलिए नहीं कह सकते कि बिन्दु 'है' इस स्थिति पर पहुँचने पर श्री बाबूजी महाराज की पावन इच्छा शक्ति कि 'हम अन्त तक पहुँचे' पूर्ण होने लगती है। हमारे में सदैव उनकी उपस्थिति द्वारा ही ऐसी रहनी स्वतः ही शुरू हो जाती है कि 'नहीं है' को 'है' मानकर चलने का

नज़ारा भी हम देखते हैं। इस खूबसूरत गुनाह को हमारे समक्ष दर्शाने वाले होते हैं श्री बाबूजी महाराज हमें तो केवल साक्षी रूप में साथ रखते हुए वे ले जाने लगते हैं। यह अवश्य है कि इस स्थिति में जब हम श्री बाबू जी महराज की हालत लिखते हैं कि 'ऐसी है, 'ऐसी है,' इत्यादि, तब ज़रा सोचने पर लगता है कि जाने हालत है भी या नहीं है। इससे यह प्रमाणित होता है कि 'नहीं है' को 'है' मनवाकर वे हमें लिए चल रहे हैं।

एक बात मैंने यह पाई कि जब अहम् के स्थूल बन्धन से हम परे पहुँचते हैं तो हमें रंग की तमीज़ भी नहीं रहती है। कोई कहे 'हरे रंग की बाल्टी लाओ' तो रंग का विचार आए बिना ही हम हरे रंग की बाल्टी उठा लेते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण मैंने यह पाया कि शरीर को रखने के लिए और संसार में रहने के लिए जितनी तमीज़ (होश) चाहिए उतनी हममें स्वतः ही काम करती रहती है। इसी से मैंने पाया है कि ऐसी श्रेष्ठ रहनी में रहते हुए भी हमारे कर्तव्यों में हमारे व्यवहारों में सबके साथ पवित्र सामन्जस्य बना ही रहता है। जब रंग की पहचान का आवरण हमारे होश पर से खिंच

जाता है तो रह जाती है केवल नग्न-सादगी की दशा। उसे व्यक्त करने लिये मैंने श्री बाबूजी महाराज को लिखा था कि 'मानों सादगी मेरा स्वरूप हो गई है।' अन्तर की ऐसी पावन एवं विशुद्ध-स्थिति में मेरा वह कथन मुझे सिद्ध हो गया लगता है कि 'लय होते-होते मालिक के समक्ष एक दिन हमारा अन्तर कुल खुलकर स्तब्ध खड़ा रह जाता है।' अर्थात् प्रथम तो उनमें हमारा खुलना होता है और तब हम सादगी की दशा में उनके समक्ष अपने को खड़ा पाते हैं। फिर उनकी बारी आती है कि वे अपने को हमारे समक्ष खोलें या न खोलें। परन्तु उन्हें हमारे समक्ष हममें स्वयं को खोलना ही पड़ता है क्योंकि हमारी हालत ही ऐसी होती है जो खोलने के लिए उन्हें मजबूर कर देती है। तभी से हम साक्षात्कार की हालत में कदम रखते हैं। ऐसी खुली हुई हालत एवं उनके सामने फैली हुई हालत में मुझे यह भी होश भूल गया कि वे सामने हैं।

यह प्रश्न उठ सकता है कि आध्यात्मिकता क्या बला है? इसके बारे में केवल इतना ही कह सकती हूँ कि अन्तरिक्ष की ओर बढ़ती हुई, जहां तक आत्मा के निखार का विस्तार हम लिखते हैं, वहां तक हम

यही लिखते हैं कि आध्यात्मिक हालत 'ऐसी है', 'वैसी है'। लेकिन, जहां हमें आत्म-तत्व से भी परे श्री बाबूजी महाराज ले जाते हैं तो फिर हम आध्यात्मिक गति नहीं लिख पाते हैं। तब ईश्वरीय पसारे में हमारा पसारा हो जाता है और ऐसे ही हम उस दशा को व्यक्त भी करते हैं। प्रथम तो हम समस्त में उनका ही दर्शन पाते हैं। फिर उस पावन दशा में लय होते-होते एक दिन हमारा ईश्वरीय-शक्ति में विलीन होना शुरू हो जाता है। समस्त में व्याप्त ईश्वरी शक्ति में लय होते होते, उनकी सर्वव्यापकता में प्रवेश पाने की बारी भी वे ले ही आते हैं। फिर अपनी सर्वव्यापकता में वे हमें भी सचमुच ही व्याप्त कर लेते हैं।

अब विचार में से उन्नति का स्थान भी साफ़ हो जाता है। अर्थात्, अपनी उन्नति विचार से भी कहीं हल्की हो जाती है। दशा विचार के दबाव से परे पहुंच जाती है तब विचार भी 'विचार' में मिलकर समा जाता है। अर्थात्, स्वयं की, विचार हीन दशा रहने लगती है। कबीर का कथन अब चरितार्थ हो जाता है "एक-एक में कहा विचार, जहां मिलौनी तहां विचार।" जब ऐसी स्थिति में हम

पहुंच गये तो फिर विचार भी विचार में मिल कर समा जाता है—कहां ? यह कौन जाने ? अब हमारी वाह्य रहनी में बड़ा अन्तर आ जाता है। लगता है जिस चीज़ की आवश्यकता होती है अर्थात् लाज-लिहाज़, शर्म, सुख-दुख, सभी कुछ, आवश्यकतानुसार हमारे में कार्यरत होकर फिर जहां के तहां चले जाते हैं। गीता के वाक्य की दशा हमारे में कार्य करने लगती है कि 'गुण, गुण में ही वर्तने लगते हैं और हम केवल द्रष्टा मात्र बने रह जाते हैं।' फिर इस विराट् की सूक्ष्म दशा में भी हम एक सा होंने लगते हैं। अब चारों ओर मूल तत्व की मूल स्थिति का ही आभास हमें मिलने लगता है।

साधना में उन्नति की चोटी पर तो हम पहुंच गये। ईश्वर के साक्षात्कार के साथ मिलन की दशा भी हममें समा गई। अब प्रश्न होता है कि इसके पीछे क्या है ? इधर तो ईश्वरीय-प्रकाश की भी पहुच नहीं है। फिर किस तरह चलते हैं ? तो मैंने यह पाया कि अब समस्त में व्याप्त सूक्ष्म-दिव्यता ही हमारे मार्ग में फैली है जहाँ न अंधेरे और न उजाले की गति होती है। वहाँ मानों स्वतः दिव्यता ही हमारे मार्ग को प्रकाशित करती चलती है। चलने

का भी अब एहसास नहीं होता क्योंकि गति भी अपनी सीमा में समा जाती है। कैसी विचित्र बात है ? 'बिनु पग चले, सुने बिनु काना' वाली हालत सहज सा मार्ग बन कर प्रत्यक्ष में बिखर जाती है, और हम बेपरवाह, बेलौस, बेराह, बेमन्ज़िल बेहोशी में भी होश पाए हुए, पहुँच रहे हैं। कहां ? यह कौन कह सकता है ? अब यह भी नहीं कहा जा सकता है कि सूक्ष्म से अति सूक्ष्म में जा रहे हैं ? एक सीमा-पर पहुँच कर सूक्ष्मता भी हालत का साथ छोड़ कर अपनी सीमा में विलीन हो जाती है। यह भी पता लगता है कि प्रेम और भक्ति एवं लय-अवस्था जिनका सहारा पाकर हम बढ़े, चले, और श्रेष्ठ में विलीन हो गये उन सबकी भी एक सीमा थी। अपनी-अपनी सीमा आते ही सबके सब मेरे देखते ही देखते लय-अवस्था में लय हो गये। अब हालत के विषय में कुछ भी कह पाना असम्भव सा होने लगता है। अगर हम कहते हैं कि हमारी हालत है तो यह यों ठीक नहीं लगता है कि हम तो मानो साक्षी भूत हुए ही रह जाते हैं। हालत सामने है और कलम लिखती है। तो क्या कहा जा सकता है कि यह मेरी हालत है अथवा हालत की हालत है ? हां, अब हर

पहुँच का, हर एक स्तर, मंजिल मालूम होने लगती है, और हम पुनः वैरागी से सबको छोड़ कर आगे को रुख फेर लेते हैं। वास्तव में सच्चे वैराग्य की हालत यदि पूछा जाय तो मैं यही कहूंगी कि हम ईश्वरीय देन के राग के योग से भी अपनत्व नहीं रख पाते हैं। हममें इतनी शक्ति एवं इतनी कुव्वत कहाँ ? यों कहने में ज्यादा अच्छा है कि राग तो यों चला गया कि उन्होंने अपना लिया, और, वैराग्य ने भी यों किनारा किया कि उन्होंने हमें अपने में समा लिया। अब हर पहुँच ही मन्जिल यों मालूम पड़ती है कि दिव्य लक्ष्य के विस्तृत क्षेत्र में कदम रख देने पर, मन्जिल (साक्षात्कार) की हर बारीकियों में घुस जाने पर, एक ऐसा ठंढापन अन्तर में व्याप्त हो जाता है मानों थकान मिट गयी हो। शाश्वत एवं पूर्ण-शान्ति इसी हालत को कहा जा सकता है। लेकिन, फ़िर चलना अभी शेष रह जाता है। 'घर' तो मिल गया लेकिन 'घरवाले' ने अभी गले नहीं लगाया है। यद्यपि यह बात बहुत पहले से मालूम होने लगती है कि 'वह' मिल गया, 'वह' मिल गया है। एक अचम्भा मैंने श्री बाबू जी की प्राणाहुति शक्ति की खूबी का यह पाया है कि उनकी यह

मंशा कि 'हम सब लक्ष्य तक पहुँचे' सहज-मार्ग क्षेत्र में कदम रखने के प्रथम दिन से लेकर लक्ष्य की पहुँच तक हमें कभी पीछे फिर कर देखने का अवसर नहीं देती, और न हमें ही ताब होती है।

सन्यासी की एक विशेषता मैंने साधुओं के मुख से सुना और पढ़ा भी है कि वह जिस घर को छोड़ता है उसे पीछे फिर कर नहीं देखता है। तो यह कहा जा सकता है कि हम प्रथम दिन से ही सच्चे अर्थ में सन्यासी होने लगते हैं। यह इसलिये कि हर दशा में सैर कर, वैरागी से, हम आगे को बढ़ चलते हैं। पीछे फिरकर देखते भी नहीं हैं। हर अगली हालत, हमें मन्ज़िल ही, मालूम होने लगती है। क्यों ? क्योंकि जब तक वह बिन्दु जो असल है, नहीं आ जाता है तब तक हर टिकाव या ठिकाना, जो भी मिलता है, उसी असल-हालत से मिलता-जुलता होता है। लेकिन, हम तो इन्तहाई-ठहराव, आत्मतत्व पर भी, ज़रा सा ही ठहर कर, पुनः चल ही पड़ते हैं। श्री बाबू जी की कृपा एवं शक्ति हमें इधर-उधर बैठा कर चैन लेने ही नहीं देती है। अनन्त-शक्ति को स्वयं में उतरा हुआ पाकर भी हम मानों खाली से चलते चले जाते हैं। क्यों ? क्योंकि हमारे कुल में वही प्रिय-

तम तो विद्यमान हो जाता है। हमारे कुल का संचालन स्वय सम्हाल लेता है। हंसी के अवसर पर हंसा दिया, रोने के अवसर पर रुला दिया, जिससे पर्दा करना चाहा पर्दा कराया, और जिसके सामने खड़ा करना चाहा, खड़ा कर दिया। जब चाहा सताया, जब चाहा प्यार कर लिया। खुद खुश हुए लेकिन हम तरसते ही रह गये। और, अन्त में, उस तरस को भी हम पर तरस खाकर अपने में ही समा लिया। हमें पूरी तरह से स्वतंत्रता प्रदान कर दी अपनी सार-संभाल में। तभी शायद अहम् के उस विन्दु के पसारे को भी हम पार कर पाते हैं।

अब हम तो तड़प का भी साथ छोड़ देते हैं परन्तु शायद वह हमारा पीछा करती ही रहती है। कब तक ? यह कौन कहे ? कई बार मैंने श्री बाबू जी महाराज को लिखा है कि 'लगता है कि कहीं बेहद तड़प मुझमें है। यह अन्दाज मुझे लगता है। लेकिन कहाँ है ? किस में है ? इसका पता नहीं लगता है।' वास्तविक बात यही है कि उस तड़प के बिन्दु को हम अपना मान लेते हैं क्योंकि इसी बहाने कुछ दूसरा अन्दाज में तो आता है जबकि हमें उसका स्पर्श तक नहीं हो पाता है। मैंने उन्हें यह भी लिखा था कि

'तड़प है' ऐसा लगते ही जब दृष्टि उसका पीछा करती है तो वह ओझल हो जाती है क्योंकि बिन्दु के पसारे की बिन्दु में समाने की बारी आ जाती है। अब यह भी नहीं कहा जाता कि 'नहीं है' को 'है' मानकर चलने की राह है। ऐसी दशा में पहुंच कर बहुधा यदि मेरे शरीर में कहीं तेज दर्द होता है तो लगता है कि दर्द कहीं है। लेकिन किसके है ? यह पता नहीं लगता है। हां, जब दर्द हद तोड़ देता है तो शरीर में 'हम' का सिमटाव सा होकर यह अन्दाज देता है कि यह दर्द मुझे हो रहा है। थोड़े बहुत में तो होने न होने का कुछ वहम मात्र सा रहता है। एक समय आता है जब मन्जिल का वह बिन्दु जिसे श्री बाबू जी महाराज असल कहकर छोड़ देते हैं, प्रकट होता है। फिर वह बिन्दु भी जो हर गति को मन्जिल मिलने की प्रत्यक्षता ही बताता था 'असल' में ही समान लगता है। अर्थात् बिन्दु का 'बिन्दु' में समाना हमारे समक्ष प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रत्यक्षता को भी आज समस्त के लिए सहज बनाने में समर्थ सद् गुरु, श्री बाबू जी के अलावा कोई दीखता ही नहीं है। वास्तव में, ऐसा विशिष्ट व्यक्तित्व एक समय में दो का हो भी नहीं सकता है। ऐसा प्रकृति का

विधान है। इतनी सूक्ष्म प्रकृति की शक्ति पर दो का आधिपत्य हो ही नहीं सकता है।

असल-मंजिल अथवा असल का साक्षात्कार होने का पहले वहम सा प्रतीत होने लगता है। अर्थात् एक अजीब वहम सी हालत, दिव्यता लिए हुए, हमारी हो जाती है। फिर जब वह वहम् थोड़ा वास्तविकता में बदलने लगता है तो हमारी स्थिति आश्चर्यचकित सी रह जाती है कि यह क्या है? अर्थात् वह बिन्दु जो 'अ' और 'ह' को योग देकर अहमियत देने वाला था वह असल में समाकर एक हो जाता है। असल का प्राकट्य होने से पहले असलियत के पसारे को अनुभव की दृष्टि आश्चर्य चकित सी देखती रह जाती है। फिर ऐसा लगता है कि जिस असल ने अपने पसारे या व्यापकता को अनुभव कर पाने के लिये हमें दिव्य दृष्टि प्रदान की थी वह कार्य पूर्ण हो जाने पर वह अनुभव की दृष्टि भी अब ओझल होना शुरू हो जाती है। अनुभव तो हमसे पहले ही विदा ले चुके होते हैं। रह जाती है केवल दृष्टि। 'उसके' दर्शन के लिये वैसी ही दिव्य दृष्टि भी होती है। जब दृष्टि भी समा गई, अथवा लय हो गई, (क्योंकि अलगत्व समाप्त हो गया) तो

बच जाता है केवल 'असल ।' केवल यही लिखा भी जा सकता है। ऐसा मैंने अपने जीवन सर्वस्व श्री बाबू जी को लिखा है। आगे वह क्या लिखायेंगे यह वह जाने। लेखनी लिखने को तैयार है।

वास्तव में, श्री बाबूजी महाराज की पावन प्राणशक्ति हमारे अन्दर सोई हुई ईश्वरीय चेतन शक्ति को थपथपाकर सजग कर देती है जिससे हम दिव्य-दर्शन पा सकें। अतः वह दिव्य-दृष्टि पैदा होती ही है। जब यही सजगता सही अर्थ में हमारे अन्दर जागृत हो जाती है तभी सहज-मार्ग की प्रत्यक्षता, आत्मिक हालतों की गहनता, एवं ईश्वरी-दशाओं का निखार, हमारे अन्तर में स्वतः ही फैलता जाता है। सहज-मार्ग-साधना-पद्धति में ध्यान काआधार लिए हुए, हमारे अन्तर में पावन-ईश्वरीय-गतियां निखरती ही चली जाती हैं। उनका मधुर अनुभव इसी दिव्य-चेतना के द्वारा हमें मिलता जाता है। आगे चलकर जब स्वयं हम मौन हो जाते हैं तब किस प्रकार उनकी कृपा, और हममें जागृत प्राप्त यह दिव्य-चेतना, तरह तरह से करवटें बदलकर, हमारे अन्तर में निखरती ईश्वरीय-गतियों की प्रत्यक्षता को हमारे सम्मुख लाती जाती है, और वे दिव्य अनुभव हम लिखते

चले जाते हैं, यह कह पाना सरल नहीं है। जहाँ से सूक्ष्मअहम् के विसर्जन की भी सूक्ष्म हालत का आरम्भ होता है मैने यही पाया है कि यह सजगता और अनुभव दिव्य होते चले जाते है। तभी उस 'असल' की हालतों की प्रत्यक्षता में जिसमें श्री बाबूजी महाराज हमें उतारते हैं, उसका भी अन्दाज़ हमारे द्वारा लिख ही जाता है। जब अन्दाज़ स्वयं ही अन्दाज़ दे दे तो फिर यही कहना पड़ता है कि 'मैं' को हटा करके 'असल' ही समा जाता है। इसका स्पष्ट दर्शन हमें सहज-मार्ग साधना के दिव्य दर्पण द्वारा सहज हो जाता है।

नजर 'इन्हें' न लगे उम्र की कभी भाई,
'संध्या' बेसुध हुए हम गाते चले जाते हैं।

उपसंहार

मेरी पुस्तक का उपसंहार भला क्या हो सकता है जबकि यात्रा अनन्त है और पथिक मंजिल से अनजान है । श्री बाबूजी का न जाने यह कैसा दिव्य चमत्कार हुआ कि मंज़िल खुद ही दौड़ कर चली आई । अब मंज़िल की मंज़िल क्या होगी ? कहाँ होगी ? क्या कहा जाये ? उसके बारे में भला कैसे और कौन कह सकेगा ? हां बतायेगा वही, लिख भी वही पायेगा, जिसे मंज़िल का दावेदार खुद यहां तक खींच लाया है । अब क्या है ? केवल यही कि बिना गति के चलना है, बिना संकल्प के बढ़ना है । हम तो अब ऐसी सहज राह के राही हैं जिस पर चलकर यह पता तक नहीं चलता है कि कभी हम किसी राह पर से गुज़रे हैं । इस पुस्तक में जो कुछ भी लिखा गया है, श्री बाबूजी महाराज की देन का केवल इज़हार मात्र हो सकता है, उपसंहार नहीं । श्री रामचन्द्र मिशन के प्रिय अभ्यासी बंधुओं के लिए यह केवल उपहार मात्र है ।

आध्यात्मिक क्षेत्र में उप-संहार का अर्थ मैंने

यह पाया है कि 'संहार' या 'प्रलय' हमारे अहम् की होती है और प्रसन्नतापूर्वक हम अपना प्रलय स्वयं देखते हैं। मैंने एक बार श्री बाबूजी महाराज को लिखा भी था कि "मानों मैं मर कर अपनी लाश को स्वयं ढो रही हूं।" 'प्रलय' (लय अवस्था) हो जाने के बाद (जैसा मैंने अहम् के अध्याय में लिखा भी हैं) फिर हमारे महा-प्रलय अथवा लय की भी लय -अवस्था हो जाने का समय भी आ पहुंचता है। उपसंहार अथवा अपने प्रलय की हालत में निखरी हुई दिव्य-अन्तर्गतियों तथा प्राप्त मंजिल के भी प्रलय अथवा लय होने की बारी आ जाती है। ऐसी दिव्य गति की प्राप्ति में, मैंने देखा है कि अपनी जीवित लाश में से हम ऐसे निकल जाते हैं कि फिर उसमें कभी प्रवेश नहीं पा सकते हैं। हमें इसका स्पर्श तक नहीं हो पाता है। लगता है दूर, बहुत दूर, अनन्त में, अपनी विशेष अवस्था में लय हुए, हम संसार में कमलपत्र की तरह रहने लगते हैं। प्रसिद्ध तो यह है कि "प्रलय किसने देखी है ?" लेकिन यह ध्रुव सत्य है कि हम राजयोगी, सहज-मार्ग-साधना में, ध्यान के द्वारा मंजिल को पाने का दृढ़ संकल्प लिये, अर्न्तउपासना में लीन, महान गतियों की स्टेज (मंच) तय करते

करते अपने प्रलय, और प्रलय के भी प्रलय, स्वयं सहज मार्ग के दर्पण द्वारा देखते हैं, और लिखते भी हैं। आगे, योग, ध्यान, साधना मार्ग, एवं लक्ष्य में प्राप्त लय अवस्था भी कहीं लय होती चली जाती है। तभी मानों दिव्य देश का दर्शन सहज-मार्ग के दर्पण में पाकर इस पुस्तक के उप-संहार लिखने अथवा हमारे महाप्रलय होने का समय भी, सदगुरु श्री बाबूजी ला ही देते हैं। लेकिन अब कौन सी आंख अपने इस महा-प्रलय को देखती है ? यह मैं नहीं बता सकती हूं। लगता है कि यह आंख भी 'मूल आंख' (Original eye) 'प्रियतम' मालिक' की ही होगी। लेकिन उसे अपना मानते मानते आज मुझे ऐसा लगता है मानों मैंने ही वह नजारा देखा है। इसीलिये यह पुस्तक भी पाठकों के समक्ष उपस्थित हो सकी है। मैं तो अपने महाप्रलय के समक्ष बदलती हुई दिव्य-गतियों के साक्षात्कार की केवल साक्षीमात्र ही रही हूं। इस पुस्तक के लिखने के लिये मैं केवल निमित्त मात्र हूं। असल रचयिता तो वे दाता एक 'राम' ही हैं।

आगे इतना भी नहीं रह पायेगा। इतना भी नहीं बन पायेगा। क्योंकि अब तक तो हालत स्वयं बदलती

रही अर्थात् अन्तर प्रलय होती रही, और कलम लिखती रही।मुझे न इसका पता रहा है, न उसका कुछ होश ही रहा है। बे-पते का भला पता भी क्या हो सकता है ? मैंने तो इतना ही जाना है कि मन को ध्यान में (अर्थात् उप-आसन पर) आसीन करके जब से ईश्वरीय रंग में रंगने का प्रयत्न किया है तभी से श्री बाबूजी की प्राणाहुति द्वारा परम-ईश्वरीय गतियों का विकास अन्तर में हमारे प्रलय को पनपाने लगता है। ज्यों-ज्यों हम वाह्य से अन्तर्मुखी बने रहने में सफल होते जाते हैं वैसे ही श्री बाबूजी की राज-योगी-साधना द्वारा, दर्शन की आकांक्षा में मद-होश रहते हुए, एक ओर जहां 'उसका' दर्शन हममें निखार पाता जाता है तो दूसरी ओर पुस्तक के उप-संहार अर्थात् अपने महा-प्रलय की तैयारी भी शुरू हो जाती है। जैसे हालत को खुद यह पता नहीं होता है कि वह हालत है, वैसे ही इस फ़नाए-फ़नां अर्थात् लय की भी लय अवस्था में हमें यह होश नहीं रहता है कि यह हमारी हालत है या हालत की हालत है। उसी प्रकार पुस्तक के उप-संहार को आज कुछ भी पता नहीं है कि इस पुस्तक के द्वारा वह पाठकों के सन्मुख कौन से दिव्य रत्न बिखेरने जा रहा है। यह

सब कुछ परम सद्‌गुरु श्री बाबूजी की कृपा और उनकी यौगिक प्राणशक्ति द्वारा ही आज समस्त के लिये सम्भव हो सका है ।

इतना ही नहीं, आज यह भी सम्भव हो सका है कि आध्यात्मिक क्षेत्र के विस्तृत, अलौकिक एवं दिव्य-गतियों को, वैसी ही वाणी एवं शब्दों में व्यक्त कर पाने की क्षमता भी श्री बाबू ज़ी ने ही प्रदान की है । यह क्षमता भी उस दिव्य के दर्शन को व्यक्त करके उनमें ही लय हो जायेगी । क्योंकि, जब 'घर' मिल गया तब बीच के हाल को दुहराना भी क्या ? मुझे याद है कि इसी हालत पर मुझे श्री बाबू जी ने लिखा था कि 'फ़नाए-फ़ना (लय की भी लय अवस्था) की हालत तो पार हो चुकी है, अब वका अर्थात् परिपक्वता की हालत शुरू है । जितनी तेज़ हालत फ़नाए-फ़ना की होती है उसी मिकदार से इसमें बका अर्थात् परिपक्व हालत ईश्वर के दरबार से हमें बखशी जाती है ।' बका का अर्थ वास्तव में परिपक्वता इस अर्थ में है कि नीचे के सारे आधार ही मिट चुके होते हैं । फिर जाय तो कहां ? जहाँ हैं, वहीं 'वतन' बन जाता है । फिर उन्होंने लिखा कि 'इसे ही तुरिया अवस्था कहा जाता

है।' यह भी लिखा कि 'जब मैं इन दोनों हालतों को देखता हूं यानी फ़नाए-फ़ना और तुरिया अवस्था को, तो एक-सा ही पाता हूँ। उनके द्वारा दर्शाए इश्वरीय गति के इस दिव्य नज़ारे को मैंने देखा, फिर भर लिया अपने में। आश्चर्य ! उसको भरने में स्वयं कुल खाली हो गई ! उनका ही दिव्य प्रसाद हो गई। अब जो मुख बोलता है या लेखनी लिखती है तो उस प्रसाद का ही प्रसाद हो सकता है।

श्री बाबू जी महाराज ने इस हृदय को ऐसा संवारा और अपनी दिब्यता प्रदान करके ऐसा सजा कर तैयार कर दिया कि ऐसे दिव्य दर्शन की गति में लय होकर भी यह दिव्य उपसंहार मैं लिख पाने में समर्थ हो सकी हूँ। इसके ही द्वारा इस पुस्तिका का सृजन सम्भव हो पाया है। क्योंकि मैंने देखा है कि अन्तर्दशा जितनी सूक्ष्म होती जाती है उतनी ही उनकी प्राणाहुति द्वारा अनुभव की दृष्टि भी सूक्ष्म होते होते एक दिन दिव्य-दृश्टि में बदल जाती है। यही सहज मार्ग साधना का विशेष सौंदर्य है। ऐसे सुव्यवस्थित ढंग से श्री बाबू जी का दिव्य-आत्मिक-प्रशिक्षण हम अभ्यासियों को मिलता है कि एक दिव्य-अनुभव और अनुभवी, दोनों ही

अपने अन्तिम-सत्य में लय हो जाते हैं। श्रद्धानत तो हमें तब होना पड़ता है जब श्री बाबू जी महाराज ईश्वर का हमें पूर्ण दर्शन ही नहीं कराते हैं बल्कि उनमें एकत्व देकर मिला देते हैं, गुड़ और शीरे की तरह ! और, पुस्तक के रूप में फिर उप-संहार का परिचय भी तो प्रिय पाठकों को मिल ही गया है ! फिर भी यात्रा समाप्त नहीं हुई, मार्ग तो पूरा हो गया। यात्रा ने जब 'अनन्त' की ओर मोड़ ले लिया है इसलिये यात्रा को दृष्टि में भर पाने योग्य अब दृष्टि भी नहीं रही।

अब तक तो मैंने यही पाया कि 'हर अन्त किसी दिव्यता के आरम्भ का सूत्र होता था।' लेकिन जब अन्त का भी अन्त हो गया तब अनन्त की यात्रा का हाल यदि लिखने को मिल पायेगा तो अवश्य लिखूंगी। हो सका तो मेरा यह भी प्रयत्न रहेगा कि उन्नति के उन सभी मुख्य बिन्दुओं की अवस्थाओं पर, जिनका शोध श्री बाबू जी ने मुझे प्रशिक्षण देते समय दिया था, प्रकाश डालकर अपने अभ्यासी बन्धुओं की सेवा कर सकूं। अभी तो मैंने सहज-मार्ग-साधना के मुख्य विषयों को ही कुछ अनुभव-प्रकाश द्वारा व्यक्त करने का प्रयास किया है। ईश्वर को मानते लगभग

सभी हैं, लेकिन उसे चाहने वाले बहुत कम हैं। मेरा प्रयत्न यही है और यही रहेगा कि श्री बाबू जी की कृपा से, लेखनी एवं वाणी के माध्यम द्वारा समस्त में ईश्वर-प्राप्ति की चाह भर सकूं। क्योंकि' 'जो है ही' उसे मानना क्या ? उसे पाना ही शेष रह जाता हैं। सच तो शाश्वत है ही। उसको खुद में उतार लाना ही बहादुरी है। यह अवश्य है कि इस बहादुरी में अपने अहम् की बलि चढ़ाई जाती है। पर इसकी भी सुधि किसे रहती है ? हृदय तो एक फ़कीर की मज़ार ऐसा बन कर रह जाता है।

अब जो सामने है उसे श्री बाबू जी के सरल शब्दों में ही कि वह असलियत का पसारा है व्यक्त किया जा सकता है। देखो तो असलियत, समझो तो असलियत। असलियत मे ही दिल और दिमाग़ मंज कर, संवर कर, कुछ लिखने को पुनः तैयार है। अन्तर इतना है कि असलियत संवारी नहीं जाती, बखानी नहीं जा सकती। अब तो असलियत ही असलियत बची है जो कलम के माध्यम से अनन्त की यात्रा का कुछ हाल दे सकी तो अच्छा है।

———